वैदिक धर्म

कार्तिक सं. २०००
नवम्बर १९४३

विषयसूची।

१ वीरोंका आक्रमण । ३५१
२ दैवतसंहिता द्वितीय भाग । ३५२
३ ब्रह्मके प्रकाशका दर्शन (१४) ३५३
संपादक
४ वेदका रहस्य। (१९) ३६८
श्री अरविंद
५ अहिंसा । (१) ३७८
पं. वसिष्ठजी
६ 'देवकामा' पर संमति । ३९४
७ पातंजल-योगानुशासनं
नाम शास्त्रं । ३९५
८ शांतिः । पं. रलियाराम कश्यप ४०३
९ सच्चिदानंद प्रभुके चरणोंमें ४०६

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं. दयानंद गणेश धारेश्वर, B. A.
स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु.; वी. पी. से ५।=) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।

वैदिकधर्म.

क्रमाङ्क २८७

वर्ष २४ : : : : अङ्क ११

कार्तिक संवत् २०००

नवंबर १९४३

वीरोंका आक्रमण।

नि वो यामाय मानुषो दध्र उग्राय मन्यवे।
जिहीत पर्वतो गिरिः॥

(ऋ १।३७।७)

"तुम्हारे भयानक क्रोधयुक्त आवेशसे एवं उत्साहसे भरे हुए आक्रमण से डर कर मानव तो किसी के सहारे ही रहता है, परन्तु तुम्हारे आक्रमण से पहाड और पर्वत भी डरके मारे विकंपित हो उठते हैं।"

अर्थात् शूरों का आक्रमण ऐसा हो कि जिससे शत्रु भयभीत होकर कांपने लगें।

दैवतसंहिता का द्वितीय विभाग।

दैवत-संहिता के प्रथम विभाग में अग्निमंत्र २४८३, इन्द्रमंत्र ३३६३, सोममंत्र १२६१, मरुन्मंत्र ४६४ अर्थात् इन चारों देवताओं के मिलकर ७५७१ मन्त्र संग्रहित हो चुके हैं। यह प्रथम विभाग पाठकोंके पास पहुंच चुका है।

दैवतसंहिता का द्वितीय विभाग छप रहा है। इस में इस समय तक अश्विनौ मंत्र ६८९, आयुर्वेद मंत्र २३४५, रुद्रमंत्र २२७, उपामंत्र १९४, अदितिआदित्य-मंत्र ९०० अर्थात् ४३५५ इतने मंत्र छप चुके हैं और विश्वेदेवा देवता के करीब ३००० मन्त्र छपने हैं। इनके छपते ही यह विभाग करीब ७५०० मंत्रों का तैयार होगा।

शेष मन्त्र तृतीय विभाग में छपेंगे जो करीब इतने ही हैं। तीनों विभाग करीब करीब सात सात हजार मंत्रों के बनेंगे। और उन में सूचियाँ आदि सब यथायोग्य अध्ययन की विपुल सामग्री दी जायगी।

प्रथम भाग दैवतसंहिता का ग्राहकों के पास पहुंचने से द्वितीय भाग की मांग बढ रही है। ग्राहकों के पत्र प्रति-दिन आ रहे हैं और उन में देरी होने के कारण पूछे जा रहे है। इन सब को निवेदन यही करना है कि दैवत-संहिता का द्वितीय भाग छापने में जितनी जल्दी की जा सकती है, उतनी की जा रही है। किसी तरह की शिथि-लता नहीं हो रही है। परन्तु सूचियां बनने के लिये जो देरी लगती है, उतनी देरी तो हर हालत में लगनी ही है। सूचियां बनने के विना देवता की छपाई परिपूर्ण नहीं होती, इस कारण देरी लगती है। वैसे तो देवतामन्त्रों का संग्रह छपकर तैयार ही रहता है। सूचियां तैयार होनेकी देरी रहती है। मन्त्र छापने के बाद ही सूचियाँ बनायीं जाती हैं। यह है देरी का कारण।

दैवतसंहिता के मन्त्रों का भाषार्थ बनाने और छापने का कार्य भी शुरू है। मरुद्देवता के मन्त्रों का भाषार्थ छप चुका है। इस में वैदिक युद्धविद्या, क्षात्रविद्या, सैन्यरचना शत्रुपर हमले चढाने की विधि आदि अनेक विषय आ चुके हैं। प्रत्येक विषय अति स्पष्ट तथा सुबोध करने के लिये जितना यत्न किया जा सकता है, उतना किया है। विस्तृत भूमिका, पद-पदार्थ, अन्वय अर्थ और भावार्थ और सुबोध तात्पर्य दिया है। अध्ययन करने के लिये जो साधन चाहिये वे सब दिये हैं। पुस्तक बडी उपयोगी और उत्तम बोधप्रद है।

इसी तरह अब 'अश्विनौ' देवता के मंत्रों का अर्थ छापा जायगा। इस में औषधिविद्या, शस्त्रविद्या, चिकित्सा, आदि अनेक विद्याएं हैं। इन सब विद्याओंका इसमें विवरण रहेगा।

इस तरह आगे सोमदेवता का भाषार्थ छापा जायगा।

—निवेदनकर्ता

ब्रह्मके प्रकाशका दर्शन।

(लेख १४ वाँ) ×

ब्रह्म नामक एक ही सत् तत्त्व है, यह ज्ञान इस समय तक के अनेक लेखों में दिया गया है। यहां दो, तीन या अधिक पदार्थ नहीं हैं, यहाँ केवल एक ही ' सत् ' है, जो ब्रह्म अथवा आत्मा पद से वर्णन किया जाता है। इस **' ब्रह्मका प्रकाश '** अथर्ववेद के काण्ड १० के द्वितीय सूक्त में किया है, वह प्रकाश इस लेख में बताना है। इस सूक्त में प्रारम्भ में अनेक प्रश्न पूछे गये हैं और अन्त में सब प्रश्नों का उत्तर भी दिया है। अतः प्रथमतः ये प्रश्न देखिये–

स्थूल शरीरके अवयवोंके संबंधमें प्रश्न।

केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ। केनांगुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छ्लङ्खौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ॥ १ ॥ कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य। जंघे निर्ऋत्य न्यदधुः क्व स्विज्जानुनोः संधी क उ तच्चिकेत ॥२॥ चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबंधम्। श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिंधं सुदृढं बभूव ॥३॥ कति देवाः कतमे त आसन् य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य। कति स्तनौ व्यदधुः कः कफोडौ कति स्कंधान् कति पृष्टीरचिन्वन् ॥ ४ ॥ को अस्य बाहू समभरद् वीर्यं करवादिति। अंसौ को अस्य तद्देवः कुसिंधे अध्या दधौ ॥ ५ ॥

(१)

(१ पूरुषस्य पार्ष्णी केन आभृते ?) मनुष्य की एडियां किस देवने बनाईं ? **(२ केन मांसं संभृतं ?)** किसने इस में मांस भर दिया ? **(३ केन गुल्फौ ?)** किसने टखने बनाये ? **(४ केन पेशनीः अंगुलीः ?)** किसने सुन्दर अंगुलियां बनाईं ? **(५ केन खानि ?)** किसने इंद्रियोंके सुराख बनाये ? **(६ केन उच्छ्लंखौ ?)** किसने पांव के तलवे जोड दिये ? **(७ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ?)** इन अवयवोंको बीचमें कौन आधार देता है ?

(२)

(८ नु कस्मात् अधरौ गुल्फौ अकृण्वन् ?) भला किस देवने नीचे के टखने बनाये हैं ? और– **(९ पूरुषस्य उत्तरौ अष्ठीवन्तौ ?)** मनुष्यके ऊपरके घुटने ? तथा– **(१० जंघे निर्ऋत्य क्व स्वित् न्यदधुः ?)** जांघे अलग अलग बनाकर कहां भला जमा दीं हैं ? **(११ जानुनोः संधी क उ तत् चिकेत ?)** जानुओंके संधीका किस देवने भला ढांचा बनाया ?

(३)

(१२ चतुष्टयं संहितान्तं शिथिरं कबंधं जानुभ्यां ऊर्ध्वं युज्यते ?) चार प्रकारसे अन्तमें जोडा हुआ शिथिल (ढीला) धड (पेट) घुटनोंके ऊपर किसने भला जोड दिया है ? **(१३ श्रोणी, यत् ऊरू, क उ तत् जजान ? याभ्यां कुसिंधं सुदृढं बभूव ?)** कुल्हे, और जांघे, किसने भला बनायीं हैं ? जिन से धड बडा दृढ हुआ है ?

(४)

(१४ ते कति कतमे देवा आसन् ये पूरुषस्य उरः ग्रीवाः चिक्युः ?) वे कितने और कौन से देव थे, जिन्होंने मनुष्य की छाती और गले को एकत्र किया ? **(१५ कति स्तनौ व्यदधुः ?)** कितने देवोंने स्तनों को बनाया ? **(१६ क कफोडौ ?)** किसने कोहनियां बनाईं ? **(१७ कति स्कंधान् ?)** कितनोंने कंधोंको बनाया ? **(१८ कति पृष्टीः अचिन्वन् ?)** कितनोंने पसलियोंको जोड दिया ?

(५)

(१९ वीर्यं करवात् इति, अस्य बाहू कः समभरत् ?) यह मनुष्य पराक्रम करे, इसलिये इसके बाहू किसने पुष्ट किये हैं ? **(२० क देवः अस्य तद् अंसौ कुसिंधे अध्यादधौ ?)** किस देवने इस के उन कंधोंको धड में धर दिया है ?

चतुर्थ मन्त्र में **' कति देवाः '** देव कितने हैं, जो मनुष्य

× १३ वां लेख वैदिक-धर्म क्रमाङ्क २८६ में छपा है।

के अवयव बनानेवाले हैं ? ऐसा प्रश्न आता है। इससे पूर्व तथा उत्तर मंत्रोंमें भी 'देव' शब्द का अनुसंधान करके अर्थ करना चाहिये। 'मनुष्य की एडियां किस देवने बनायी हैं ?' इत्यादि प्रकार सर्वत्र अर्थ समझना उचित है। मनुष्य का शरीर बनानेवाला देव एक है वा देव अनेक हैं और किस देवने कौनसा भाग, अवयव तथा इंद्रिय बनाया है ? यह इन प्रश्नोंका तात्पर्य है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये।

ज्ञानेन्द्रियों और मानसिक भावनाओंके संबंधमें प्रश्न।

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्। येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यंति यामम् ॥ ६ ॥ हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरूचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम्। स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥ ७ ॥ मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिका प्रथमो यः कपालम् ॥ चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥ ८ ॥ प्रियाऽप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाध-तन्द्र्यः। आनंदानुग्रो नंदांश्च कस्माद्वहति पूरुषः ॥ ९ ॥ आर्तिरवर्तिर्निर्ऋतिः कुतो नु पुरुषेऽमतिः। राद्धिः समृद्धिरव्यृद्धिर्मतिरुदितयः कुतः ॥ १० ॥

(६)

(२१ इमौ कर्णौ, नासिके, चक्षणी, मुखं, सप्त खानि शीर्षणि कः वि ततर्द ?) ये दो कान, दो नाक, दो आंख और एक मुख मिलकर सात सुराख सिरमें किस देवने खोदे हैं ? (येषां विजयस्य मह्मनि चतुष्पादः द्विपदः यामं पुरुत्रा यंति ।) जिनके विजयकी महिमामें चतुष्पाद और द्विपाद अपना मार्ग बहुत प्रकार आक्रमण कर सकते हैं।

(७)

(२२ हि पुरूचीं जिह्वां हन्वोः अदधात् ?) इस बहुत गतिशील जीभको दोनों जबडों के बीचमें किसने रखदिया है ? (अध महीं वाचं अधि शिश्राय ?) और प्रभावशाली वाणी को उस में किसने रख दिया है ? (२३ अपः वसानः सः भुवनेषु अन्तः आ वरीवर्ति क उ तत् चिकेत ?) कर्मोंका धारण करनेवाला वह जो देव सब भुवनोंके अन्दर रहता है, उस को कौन भला जानता है ?

(८)

(२४ अस्य पूरुषस्य मस्तिष्कं, ललाटं, ककाटिकां, कपालं, हन्वोः चित्यं, यः यतमः प्रथमः चित्वा दिवं रुरोह, स देवः कतमः ?) इस मनुष्यका मस्तिष्क, माथा, सिरका पिछला भाग, कपाल और जबडों का संचय, आदिको जिस अनेकोंमें से एक देवने बनाया, और जो द्युलोक में चढ गया, वह भला देव कौनसा है ?

(९)

(२५ बहुला प्रियाऽप्रियाणि, स्वप्नं, संबाध-तन्द्र्यः, आनंदान्, नंदान् च, उग्रः पुरुषः कस्माद् वहति ?) बहुतसी प्रिय और अप्रिय बातों, निद्राओं बाधाओं और थकावटों, आनंदों, और हर्षोंको यह प्रचंड पुरुष किस कारण पाता है ?

(१०)

(२६ आर्तिः, अवर्तिः, निर्ऋतिः, अमतिः पुरुषे कुतः नु ?) पीडा, दरिद्रता, बीमारी, कुमति मनुष्य में कहांसे होती हैं ? (२७ राद्धिः, समृद्धिः अ-वि-ऋद्धिः, मतिः, उदितयः, कुत?) पूर्णता, समृद्धि, अ-हीनता, बुद्धि, और उदय की प्रवृत्ति कहांसे मनुष्यमें होती है ?

छठे मन्त्र में सात इंद्रियों के नाम कहे हैं। दो कान, दो नाक, दो आंख और एक मुख। ये सात ज्ञान के इंद्रिय हैं। वेद में अन्यत्र इनको ही (१) सप्त ऋषि, (२) सप्त अश्व, (३) सप्त किरण, (४) सप्त अग्नि, (५) सप्त जिह्वा, (६) सप्त प्राण आदि नामों से वर्णन किया है। उस उस स्थानमें यही अर्थ जानकर मन्त्रका अर्थ करना चाहिये। गुदा और मूत्रद्वार के और दो सुराख हैं। सब मिलकर नौ सुराख होते हैं। ये ही इस शरीररूपी नगरी के नौ महाद्वार हैं। मुख पूर्वद्वार है, गुदा पश्चिमद्वार है, अन्य द्वार इन से छोटे हैं। (आगे इसी सूक्त का मन्त्र ३१ देखिये)

यद्यपि 'पूरुष' शब्द (पुर्-वस) उक्त नगरीमें बसनेवाले का बोध कराता है, अतः सर्व साधारणतः यह पद प्राणिमात्र का वाचक है, तथापि यहां का वर्णन विशेषतः मनुष्य के शरीरका ही समझना उचित है। 'चतुष्पाद और द्विपाद' शब्दों से संपूर्ण प्राणिमात्रका बोध मन्त्र ६ में लेना आवश्यक ही है, इस तरह अन्य मंत्रोंमें बोध

लेनेसे कोई हानि नहीं है, तथापि मन्त्र ७ में जो वाणी का वर्णन है, वह मनुष्य की वाणी का ही है, क्योंकि सब प्राणियोंमें यह वाक्‌शक्ति वैसी नहीं है, जैसी मनुष्यप्राणी में पूर्ण विकसित हो गई है। मन्त्र ९, १० में 'मतिः अमतिः' आदि शब्द मनुष्य का ही वर्णन कर रहे हैं। अतः यद्यपि मुख्यतः यह सब वर्णन मनुष्य का ही है, तथापि प्रसंगविशेषमें जो मन्त्र सामान्य अर्थ के बोधक हैं, वे सामान्य तथा प्राणिजाति के वर्णनपरक समझने में कोई हानि नहीं है।

मन्त्र आठ में (कतमः दिवं रुरोह) 'स्वर्ग पर चढनेवाला देव कौनसा है?' यह प्रश्न अत्यंत महत्व-पूर्ण है। यह मन्त्र स्वर्ग में चढनेवाले का मार्ग बता रहा है। इस प्रश्न का दूसरा एक अनुक्त भाग है वह यह है कि, 'नरकमें कौन गिर जाता है?' तात्पर्य आत्मा स्वर्ग में क्यों जाता है और नरक में क्यों गिरता है?

मन्त्र ९ और १० में जीवन के अच्छे और बुरे दोनों पहलुओंके प्रश्न हैं। (१) अप्रिय, स्वप्न, संबाध, तंद्री, आर्ति, अरार्ति, निर्ऋति, अमति ये शब्द हीन अवस्था बता रहे हैं। (२) और प्रिय, आनन्द, नन्द, राद्धि, समृद्धि, अभ्यृद्धि, मति, उदिति ये शब्द उच्च अवस्था बता रहे हैं। दोनों स्थानों में आठ आठ शब्द हैं और इन का परस्पर संबंध भी है। पाठक विचार करेंगे तो वे उस संबंध को जान सकते हैं। तथा—

रुधिर, प्राण, चारित्र्य, अमरत्व आदि के विषयमें प्रश्न।

को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः पुरूवृतः सिंधु सृत्याय जाताः। तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥ ११ ॥ को अस्मिन् रूपमदधात् को मह्यानं च नाम च ॥ गातुं को अस्मिन् कः केतुं कश्चरित्राणि पूरुषे ॥ १२ ॥ को अस्मिन् प्राणमवयत् को अपानं व्यानमु। समानमस्मिन् को देवोऽधि शिश्राय पूरुषे ॥ १३ ॥ को अस्मिन्यज्ञमदधादेको देवोऽधि पूरुषे। को अस्मिन्त्सत्यं कोऽनृतं कुतो मृत्युः कुतोऽमृतम् ॥ १४ ॥ को अस्मै वासः पर्यदधात् को अस्यायुरकल्पयत्। बलं को अस्मै प्रायच्छत् को अस्याकल्पयज्जवम् ॥ १५ ॥

(११)

(२८ अस्मिन् पुरुषे वि-सु-वृतः, पुरु-वृतः, सिंधु-सृ-त्याय जाताः, अरुणाः, लोहिनीः, ताम्र-धूम्राः, ऊर्ध्वाः, अवाचीः, तिरश्चीः, तीव्राः अपः कः व्यदधात्?) इस मनुष्य में विशेष घूमनेवाले, सर्वत्र घूमनेवाले, नदी के समान बहने के लिये बने हुए, लाल रंगवाले, लोहेको साथ ले जानेवाले, तांबे के धूवें के समान रंगवाले, ऊपर, नीचे, और तिरछे वेग से चलने-वाले जलप्रवाह (अर्थात् रक्तके प्रवाह) किसने बनाये हैं?

(१२)

(२९ अस्मिन् रूपं कः अद्धात्?) इस में रूप किसने रखा है? (३० मह्यानं च नाम च कः अद्-धात्?) महिमा और नाम (यश) किसने रखा है? (३१ अस्मिन् गातुं कः?) इस में गति किसने रखी है? (३२ कः केतुं?) किसने ज्ञान रखा है? और (३३ पूरुषे चरित्राणि कः अद्धात्?) मनुष्यमें पांव अथवा चारित्र्य किसने रखे हैं?

(१३)

(३४ अस्मिन् कः प्राणं अवयत्?) इस में किसने प्राण चलाया है? (३५ कः अपानं व्यानं उ?) किसने अपान और व्यान को लगाया है? (३६ अस्मिन् पूरुषे कः देवः समानं अधि शिश्राय?) इस पुरुष में किस देवने समान को ठहराया है?

(१४)

(३७ कः एकः देवः अस्मिन् पूरुषे यज्ञं अधि अद्धत्?) किस एक देवने इस पुरुषमें यज्ञ रख दिया है? (३८ कः अस्मिन् सत्यं?) कौन इस में सत्य रखता है? (३९ कः अन्-ऋतम्?) कौन इस में असत्य रखता है? (४० कुतः मृत्युः?) कहां से इस की मृत्यु होती है! और— (४१ कुतः अमृतम्?) कहां से अमरपन मिलता है?

(१५)

(४२ अस्मै वासः कः परि-अद्धात्?) इस के लिये कपडे किसने पहनाये हैं? (कपडे = शरीर)। (४३ अस्य-आयुः कः अकल्पयत्?) इस की आयु किसने संकल्पित की? (४४ अस्मै बलं कः प्रायच्छत्?)

इस को बल किसने दिया ? और– (४५ अस्य जवं कः अकल्पयत् ?) इस का वेग किसने निश्चित किया ?

मंत्र ११ में शरीर में रक्त का प्रवाह किसने संचारित किया है ? यह प्रश्न है। प्रायः लोग समझते हैं कि शरीर में रुधिराभिसरण का तत्व युरोप के डाक्टरोंने खोज करके जान लिया है। परन्तु इस अथर्ववेद के मंत्रों में यह वर्णन स्पष्ट ही है। रुधिर का नाम इस मंत्र में " लोहिनीः आपः " है। इस का अर्थ "(लोह-नीः) लोहे को अपने साथ ले जानेवाला (आपः) जल " ऐसा होता है। अर्थात् रुधिरमें जल है और उसके साथ लोहा भी है। लोहा होनेके कारण उसका यह लाल रंग है। लोह जिसमें है वही " लोहित " (लोह+इत) होता है। दो प्रकार का रक्त होता है, एक " अरुणाः आपः " अर्थात् लाल रंगवाला और दूसरा " ताम्र-धूम्राः आपः " तांबे के रंग के समान मलिन रंगवाला। पहिला शुद्ध रक्त है जो हृदय से बाहर जाता है और सब शरीर में ऊपर नीचे और चारों ओर व्यापता है। दूसरा मलिन रंग का रक्त है, जो शरीर में भ्रमण कर के और वहां की शुद्धता करने के पश्चात् हृदय की ओर वापस आता है। इस प्रकार की यह आश्चर्यकारक रुधिराभिसरण की योजना किसने की है ? यह प्रश्न यहां किया है। किस देवताका यह कार्य है ? पाठको ! सोचिये।

मंत्र १२ में प्रश्न पूछा है कि, " मनुष्य में सौंदर्य, महत्त्व, यश, प्रयत्न, शक्ति, ज्ञान और चारित्र्य किस देवता के प्रभाव से दिखाई देता है ? " इस मंत्र के " चरित्र " शब्द का अर्थ कई लोग " पांव " ऐसा समझते हैं। परन्तु स्थूल पांव का वर्णन पहिले मंत्र में हो चुका है। यहां सूक्ष्म गुणधर्मों का वर्णन चला है। तथा महिमा, यश, ज्ञान आदि के साथ चारित्र्य ही अर्थ यहां ठीक दिखाई देता है।

मंत्र १५ में " वासः " शब्द " कपडों " का वाचक है। यहाँ जीवात्मा के ऊपर जो शरीररूपी कपडे हैं, उनका सम्बन्ध है, धोती आदि का नहीं। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है कि– " जिस प्रकार देही पुराने वस्त्रों को छोडकर नये ग्रहण करता है, उसी प्रकार शरीर का स्वामी आत्मा पुराने शरीर त्याग कर नये शरीर धारण करता है। " (गीता, २।२२) इस में शरीर की तुलना कपडों के साथ की है। इस गीता के श्लोक में " वासांसि " अर्थात् " वासः " यही शब्द है, इसलिये गीता की यह कल्पना इस अथर्ववेदके मंत्र से ली है, ऐसा प्रतीत होता है। कई विद्वान् यहां इस मंत्र में " वासः " का अर्थ " निवास " करते हैं, परन्तु " परि- अद्धात् (पहनाया) " यह किया बता रही है कि यहां कपडों का पहनाना अभीष्ट है। इस आत्मा पर शरीररूपी कपडे किसने पहनाये ? यह इस प्रश्न का सीधा तात्पर्य है।

मन, वाणी, कर्म, मेधा, श्रद्धा तथा बाह्य जगत् के विषय में प्रश्न।

(समष्टि व्यष्टि का सम्बन्ध)

केनापो अन्वतनुत केनाहरकरोद् रुचे। उषसं केनान्वैन्द्ध केन सायंभवं ददे ॥१६॥ को अस्मिन् रेतो न्यदधात् तन्तुरातायतामिति। मेधां को अस्मिन्नध्यौहत् को बाणं को नृतो दधौ ॥१७॥ केनेमां भूमिमौर्णोत् केन पर्यभवद्दिवम्। केनाभि मह्ना पर्वतान् केन कर्माणि पूरुषः ॥१८॥ केन पर्जन्यमन्वेति केन सोमं विचक्षणम्। केन यज्ञं च श्रद्धां च केनास्मिन्निहितं मनः ॥ १९ ॥

(१६)

(४६ केन आपः अन्वतनुत ?) किस देवने जल फैलाया ? (४७ केन अहः रुचे अकरोद् ?) किसने दिन प्रकाश के लिये बनाया ? (४८ केन उषसं अनु ऐन्द्ध ?) किसने उषाको चमकाया ? (४९ केन सायंभवं ददे ?) किसने सायंकाल दिया है ?

(१७)

(५० तन्तुः आ तायतां इति, अस्मिन् रेतः कः नि-अदधात् ?) प्रजातन्तु चलता रहे, इसलिये इस में वीर्य किसने रख दिया है ? (५१ अस्मिन् मेधां कः अधिऔहत् ?) इस में बुद्धि किसने रखी है ? (५२ कः बाणं ?) किसने वाणी रखी है ? (५३ कः नृतः दधौ ?) किसने नृत्य का भाव रखा है ?

(१८)

(५४ केन इमां भूमिं और्णोत् ?) किसने इस भूमि को आच्छादित किया है ? (५५ केन दिवं पर्य-

भवत् ?) किसने द्युलोक को घेरा है ? (५६ केन मह्ना पर्वतान् अभि ?) किसने अपने महत्त्व से पहाडों को ढंका है ? (५७ पूरुषः केन कर्माणि ?) पुरुष किस से कर्मों को करता है ?

(१९)

(५८ पर्जन्यं केन अन्वेति ?) पर्जन्य को किस के द्वारा प्राप्त करता है ? (५९ विचक्षणं सोमं केन ?) विलक्षण सोम को किस के द्वारा पाता है ? (६० केन यज्ञं च श्रद्धां च ?) किस से यज्ञ और श्रद्धा को प्राप्त करता है ? (६१ अस्मिन् मनः केन निहितं ?) इस में मन किसने रखा है ?

मंत्र १५ तक व्यक्ति के शरीर के सम्बन्ध में विविध प्रश्न हो रहे थे, परन्तु अब मंत्र १६ से विश्व के विषय में प्रश्न पूछे जा रहे हैं, इस के आगे मंत्र २१ और २२ में समाज और राष्ट्र के विषय में भी प्रश्न आ जांयगे। तात्पर्य इस से वेद की शैली का पता लगता है, (१) अध्यात्म में व्यक्ति का सम्बन्ध, (२) अधिभूत में प्राणिसमष्टि का अर्थात् समाज का सम्बन्ध, और (३) अधिदैवत में संपूर्ण विश्व का सम्बन्ध है। वेद व्यक्ति से प्रारम्भ करता है और चलते चलते संपूर्ण जगत् का ज्ञान यथाक्रम देता है। यही वेद की शैली है। जो इस को नहीं समझते, उन के ध्यान में उक्त प्रश्नों की संगति नहीं आती। इसलिये इस शैली को समझना चाहिये।

(यहाँ पृ० ३५८ परका चित्र देखें)

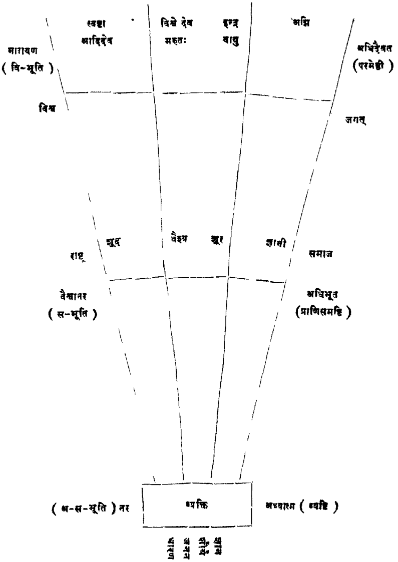
जैसा शरीर का एक अवयव हाथ पांव आदि शरीर के साथ जुडा रहता है, उसी प्रकार एक शरीर समाजके साथ संयुक्त हुआ है और समाज संपूर्ण विश्व के साथ मिला है। 'व्यक्ति समाज और विश्व' सर्वथा विभिन्न नहीं हो सकते। हाथपांव आदि अवयव जैसे शरीर में हैं, उसी प्रकार व्यक्ति और कुटुंब समाज के साथ लगे हैं और सब प्राणियोंकी समष्टि संपूर्ण विश्वमें संलग्न हो गई है। इस लिये तीनों स्थानोंमें नियम एक जैसे ही हैं।

मन्त्र १७ में प्रजातंतु अर्थात् संततिका तांता (धागा) टूट न जाय, इसलिये शरीर में वीर्य है। यह बात यहां स्पष्ट कही है। तैत्तिरीय उपनिषद् में 'प्रजातंतुं मा व्यवच्छेत्सीः।' (तै. १।११।१) 'संततिका तांता न तोड।' यह उपदेश है। वही भाव यहां सूचित किया है। यहां दूसरी बात सूचित होती है कि वीर्य यौंही खोनेके लिये नहीं है, परन्तु उत्तम संतति उत्पन्न करने के लिये ही है। इसलिये कामोपभोगके अतिरेक में वीर्यका नाश नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उसको सुरक्षित रखके उत्तम संतति उत्पन्न करनेमें ही खर्च करना चाहिये। इसी सूक्त में आगे जाकर मन्त्र २९ में कहेंगे कि 'जो ब्रह्मकी नगरीको जानता है, उसको ब्रह्म और इतर देव उत्तम इंद्रिय, दीर्घ जीवन और उत्तम संतति देते हैं। इस मन्त्र के अनुसंधानमें इस मन्त्रके प्रश्नको देखना चाहिये। वंश अथवा कुलका क्षय नहीं होना चाहिये और संततिका क्रम चलता रहना चाहिये; इतनाही नहीं, परन्तु 'उत्तरोत्तर संतति में शुभ गुणों की वृद्धि होनी चाहिये' इसलिये उक्त सूचना दी है। अज्ञानी लोक वीर्य का नाश दुर्व्यसनोंमें कर देते हैं और उस से अपना और कुल का घात करते हैं। परन्तु ज्ञानी लोक वीर्यका संरक्षण करते हैं और सुसंतति निर्माण करने द्वारा अपना और कुल का संवर्धन करते हैं। यही धार्मिकों और अधार्मिकों में भेद है।

इसी मन्त्र में 'बाण' शब्द 'वाणी' का वाचक और 'नृतः' शब्द 'नाट्य' का वाचक है। मनुष्य जिस समय बोलता है, उस समय हाथ पांवसे अंगोंके विशेष तथा विशेष प्रकार के आविर्भाव करता है। यही 'नृत' है। भाषण के साथ मनके भाव व्यक्त करनेके लिये अंगोंके विशेष आविर्भाव होते हैं, यह आशय यहां स्पष्ट व्यक्त हो रहा है।

मंत्र १८ में विश्वके विषय में प्रश्न हैं। भूमि, द्युलोक और पर्वत किसने व्यापे हैं ? अर्थात् एक ही व्यापक परमात्मा सब में व्याप्त हो रहा है, यह इस का उत्तर आगे मिलने-वाला है। व्यक्ति में आत्मा है, वैसा ही संपूर्ण विश्व में परमात्मा विद्यमान है। पुरुष शब्द से दोनोंका बोध होता है। व्यक्तिमें जीवात्मा पुरुष है और जगत् में परमात्मा पुरुष है। एक ही के ये दो भाव हैं, क्योंकि परमात्मा का अंश ही जीव है। यह आत्मा कर्म क्यों करता है ? यह प्रश्न इस मन्त्र में हुआ है।

मन्त्र १९ में यज्ञ करने का भाव तथा श्रद्धाका श्रेष्ठ



व्यक्ति-समाज-विश्व का चित्र
व्यष्टि-समष्टि-परमेष्ठी का चित्र

भाव मनुष्यमें कैसा आता है, यह प्रश्न है। पाठक भी इस का बहुत विचार करें, क्योंकि इन गुणोंके कारण ही मनुष्य का श्रेष्ठत्व है। ये भाव मन में रहते हैं और मनके प्रभाव के कारण ही मनुष्य श्रेष्ठ होता है। तथा—

ज्ञान और ज्ञानी।

केन श्रोत्रियमाप्नोति केनेमं परमेष्ठिनम्। केनेममग्निं पूरुषः केन संवत्सरं ममे ॥ २० ॥ ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम् ॥ ब्रह्मेममग्निं पूरुषो ब्रह्म संवत्सरं ममे ॥ २१ ॥

(२०)

(६२ केन श्रोत्रियं आप्नोति ?) किसके द्वारा ज्ञानीको प्राप्त करता है? (६३ केन इमं परमेष्ठिनम् ?) किस से इस परमात्माको प्राप्त करता है? (६४ पूरुषः केन इमं अग्निं ?) मनुष्य किससे इस अग्नि को प्राप्त करता है? (६५ केन संवत्सरं ममे ?) किससे संवत्सर-काल-को मापता है?

उत्तर।

(२१)

(ब्रह्म श्रोत्रियं आप्नोति।) ब्रह्म ज्ञानीको प्राप्त करता है। (ब्रह्म इमं परमेष्ठिनम्।) ब्रह्म इस परमात्माको प्राप्त करता है। (पुरुषः ब्रह्म इमं अग्निम्।) मनुष्यरूप ब्रह्म ही इस अग्नि को प्राप्त करता है? (ब्रह्म संवत्सरं ममे।) ब्रह्म ही काल को मापता है

मन्त्र २० में चार प्रश्न हैं और उन का उत्तर मन्त्र २१ में दिया है। श्रोत्रियको कैसा प्राप्त किया जाता है? गुरुको किस रीति से प्राप्त करना है? इसका उत्तर 'ब्रह्मसे ही श्रोत्रियकी प्राप्ति होती है।'

परमेष्ठी।

परमेष्ठी परमात्माको कैसे प्राप्त किया जाता है? इस प्रश्न का उत्तर भी 'ब्रह्मसे' ही है, 'परमेष्ठी' शब्द का अर्थ 'परम स्थान में रहनेवाला' है। परेसे परे जो स्थान है, उसमें जो रहता है, वह परमेष्ठी परमात्मा है। (१) स्थूल, (२) सूक्ष्म, (३) कारण और (४) महाकारण, इनमें रहनेवालेको 'परमेष्ठी' किंवा 'पर-तमे-ष्ठी' परमात्मा कहते हैं। इसका पता ज्ञान से ही लगता है। सब से पहिले अपने ज्ञान से सद्गुरु को प्राप्त करना है,' तत्पश्चात् उस सद्गुरु से दिव्य ज्ञान प्राप्त करके परमेष्ठी परमात्माको जानना है। अर्थात् ब्रह्म से ही ब्रह्म का ज्ञान होता है।

तीसरा प्रश्न 'अग्नि कैसा प्राप्त होता है यह है, अग्नि भी ब्रह्मसे ही प्राप्त होता है। अर्थात् ब्रह्मसे सूर्य, सूर्यसे विद्युत् और विद्युत् से अग्नि होता है अर्थात् ब्रह्मसे अग्नि होता है।

चौथा प्रश्न संवत्सर की गिनतीके विषय में है। संवत्सर 'वर्ष' का नाम है। इस से 'काल' का बोध होता है।

ज्ञानगुण आत्मा का है, तथा ब्रह्म शब्द से आत्मा-परमात्मा का बोध होता है, और आत्मा के ज्ञान से यह सब होता है, ऐसा भाव इस वर्णन से व्यक्त होता है। क्योंकि ज्ञान आत्मा से पृथक् नहीं है। ब्रह्म शब्द के ज्ञान, आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म आदि अर्थ होते हैं।

देव और देवजन।

केन देवाँ अनु क्षियति केन दैवजनीर्विशः। केनेदमन्यन्नक्षत्रं केन सत् क्षत्रमुच्यते ॥२२॥ ब्रह्म देवाँ अनु क्षियति ब्रह्म दैवजनीर्विशः। ब्रह्मेदमन्यन्नक्षत्रं ब्रह्म सत्क्षत्रमुच्यते ॥२३॥

(२२)

(६६ केन देवान् अनु क्षियति ?) किस से वह देवों के साथ अनुकूल होकर बसता है? (६७ केन दैव-जनीः विशः ?) किस से वह दिव्य जनरूप प्रजा के साथ अनुकूल होकर बसता है? (६८ केन सत् क्षत्रं उच्यते ?) किस से इस सत् को क्षत्र कहा जाता है? (६९ केन इदं अन्यत् न-क्षत्रम् ?) किस से यह दूसरा न-क्षत्र है, ऐसा कहते हैं?

उत्तर—

(२३)

(ब्रह्म देवान् अनु क्षियति।) ब्रह्म ही देवोंके अनुकूल होकर बसता है। (ब्रह्म दैव-जनीः विशः।) ब्रह्म ही दिव्य-जनरूप प्रजाके अनुकूल होकर बसता है। (ब्रह्म सत् क्षत्रं उच्यते।) ब्रह्मसे ही यह सत् क्षत्र कहा जाता है। (ब्रह्म इदं अन्यत् न-क्षत्रम्।) ब्रह्म ही यह दूसरा न-क्षत्र है।

मन्त्र १ से १९ तक के सब मंत्रों में तथा मन्त्र २० और २२ इन दो मंत्रों तथा २४ वे मन्त्र में अर्थात् सब मिल कर कुल २२ मंत्रों में अनेक प्रश्न पूछे गये हैं। इनमें कई प्रश्न व्यक्ति के शरीर के संबंध के हैं, कई मानव-समाज के

विषय के प्रश्न हैं, और कई प्रश्न विश्व के संबंध के हैं। इन सबका विचार करने के पूर्व २४ और २५ मन्त्र का आशय पहिले देखिये-

अधिदैवत।

केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता। केनेदमूर्ध्वं तिर्यक्चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥ २४ ॥ ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता। ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक्चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥ २५ ॥

(२४)

(७० केन इयं भूमिः विहिता ?) किसने यह भूमी विशेष रीति से बना रखी है ? (७१ केन द्यौः उत्तरा हिता ?) किसने द्युलोक ऊपर स्थिर रखा है ? (७२ केन इदं अंतरिक्षं ऊर्ध्वं, तिर्यक्, व्यचः, च हितम् ?) किसने यह अन्तरिक्ष ऊपर, तिरछा और फैला हुआ रखा है ?

उत्तर-

(२५)

(ब्रह्मणा भूमिः विहिता।) ब्रह्मने भूमि विशेष प्रकार बनायी है। (ब्रह्म द्यौः उत्तरा हिता।) ब्रह्मने द्युलोक ऊपर रखा है। (ब्रह्म इदं अंतरिक्षं ऊर्ध्वं तिर्यक्, व्यचः, च हितम्।) ब्रह्मने ही यह अन्तरिक्ष ऊपर, तिरछा, और फैला हुआ रखा है।

इस प्रश्नोत्तर में त्रिलोकी का विषय आ गया है, इस का विचार पाठक सूक्ष्म दृष्टि से करना चाहिये। भूलोक, अन्तरिक्ष लोक और द्युलोक मिलकर त्रिलोकी होती है। यह व्यक्ति में भी है और विश्व में भी है। देखिये-

(यहाँ अगला कोष्टक देखें।)

लोक	व्यक्तिमें रूप	राष्ट्रमें रूप	जगत्में रूप
भूः	नाभिसे गुदा-तकका प्रदेश, पांव	(विशः) जनता प्रजा धनी और कारीगर लोग	पृथ्वी (अग्नि)
भुवः	छाती और हृदय	(क्षत्रं) शूर लोग लोक-सभा समिति	अंतरिक्ष (वायु) इंद्र
स्वः स्वर्ग	सिर मस्तिष्क	(ब्रह्म) ज्ञानी लोग मंत्री-मंडल	द्युलोक नभोमंडल (सूर्य)

मंत्र २४ में पूछा है कि पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोकों को किसने बना कर अपने अपने स्थान में रखा है? उत्तर में निवेदन किया है कि उक्त तीनों लोकों को ब्रह्मने बनाया और अपने अपने स्थान में रखा है। उक्त तालिका से तीनों लोक व्यक्ति में, राष्ट्र में और विश्व में कहां रहते हैं, इस का पता लग सकता है। व्यक्ति में सिर, हृदय और नाभि के नीचला भाग ये तीन लोक हैं। इन का धारण आत्मा कर रहा है। तथा व्यापक ब्रह्म विश्व की त्रिलोकी की धारणा कर रहा है।

इस २४ वें मंत्र के प्रश्न में पूर्व मंत्रों में किये सभी प्रश्न संगृहीत हो गये हैं। पहिले दो मंत्रों में नाभि के निचले भागों के विषय में प्रश्न हैं, मंत्र ३ से ५ तक मध्यभाग और छाती के सम्बन्ध के प्रश्न हैं, मंत्र ६ से ८ तक सिर के विषय में प्रश्न हैं। इस प्रकार ये प्रश्न व्यक्ति की त्रिलोकी के विषय में स्थूल शरीर के सम्बन्ध में हैं। मंत्र ९, १० में मन की शक्ति के प्रश्न हैं, मंत्र ११ में सर्व शरीर में व्यापक रक्त के विषय का प्रश्न है, मंत्र १२ में नाम, रूप, यश, ज्ञान और चारित्र्य के प्रश्न हैं, मंत्र १३ में प्राण के सम्बन्ध के प्रश्न हैं, मंत्र १४ और १५ में जन्म मृत्यु आदि विषय में प्रश्न हैं, मंत्र १७ में संतति, वीर्य आदि के प्रश्न हैं। ये सब मंत्र व्यक्ति के शरीर में जो त्रिलोकी है, उस के सम्बन्ध में हैं। इन मंत्रों के प्रश्नों का क्रम देखने से पता लग जायगा कि वेदने स्थूल से स्थूल पांव से प्रारम्भ कर के क्रमशः सूक्ष्म आत्मशक्ति के विचार पाठकों के मन में उत्तम रीति से जमा दिये हैं। जड शरीर के मोटे भाग से प्रारम्भ कर के चेतन आत्मा-तक अनायास से पाठक आ गये हैं !!

चोवीसवें मंत्र में प्रश्न किये हैं कि यह त्रिलोकी

किसने धारण की है । इस का उत्तर २५ वें मंत्र में है कि "ब्रह्म ही इस त्रिलोकी का धारण करता है ।" अर्थात् शरीर की त्रिलोकी शरीर के अधिष्ठाता आत्माने धारण की है, यह आत्मा भी ब्रह्म ही है । सब प्रश्नों का उत्तर एक ही है । ब्रह्म ही यह सब करता है, अतः सब प्रश्नों का उत्तर ' ब्रह्म ' इतना ही है ।

अन्य मंत्रोंमें (मंत्र १६, १८ से २४ तक) जितने प्रश्न पूछे हैं, उनके ' आधिभौतिक ' और ' आधिदैविक ' ऐसे दो ही विभाग होते हैं, इनका वैयक्तिक भाग पूर्व विभाग में आ गया है । इनका उत्तर भी २५ वा मन्त्र ही दे रहा है । अर्थात् सब का धारण ' ब्रह्म ' ही कर रहा है । तात्पर्य संपूर्ण ७२ प्रश्नों का उत्तर एक ही ' ब्रह्म ' शब्द में समाया है । ब्रह्म ही सब कराता है ।

व्यक्तिमें और विश्व में जो ' प्रेरक ' है, उस का ' ब्रह्म ' शब्द से इस प्रकार बोध हो गया । इस का प्रत्यक्ष ज्ञान किस रीतिसे प्राप्त किया जा सकता है ? हमें शरीरका ज्ञान होता है और बाह्य विश्व को भी हम प्रत्यक्ष देखते हैं, परन्तु उसके प्रेरक को नहीं जानते !! उसको जानने का उपाय निम्न लिखित मन्त्र में कहा है—

ब्रह्म-प्राप्तिका उपाय ।

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् ।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥ २६ ॥

(२६)

(अथर्वा अस्य मूर्धानं, यत् च हृदयं, संसीव्य) अ-थर्वा अर्थात् निश्चल योगी अपना सिर, और जो हृदय है, उस को आपस में सीकर (पवमानः शीर्षतः अधि, मस्तिष्कात् उर्ध्वः प्रैरयत् ।) प्राण सिरके बीच में, परन्तु मस्तिष्क के ऊपर, प्रेरित करता है ।

इस मन्त्रमें अनुष्ठान की विधि कही है । यही अनुष्ठान है जो कि आत्मरूप का प्रत्यक्ष दर्शन कराता है । सब से पहिली बात है ' अथर्वा ' बनने की । ' अ-थर्वा ' का अर्थ है निश्चल । थर्व का अर्थ है गति अथवा चंचलता । यह सब प्राणियोंमें स्वभाव से होती है । शरीर चंचल है, उससे इंद्रियां चंचल हैं, किसी एक स्थानपर नहीं ठहरतीं । उनसे भी मन चंचल है, इस मनकी चंचलताकी तो कोई हदही नहीं है । इस प्रकार जो चंचलता है, उस के कारण आत्मशक्तिका आविर्भाव नहीं दीखता । जब मन, इंद्रियां और शरीर स्थिर होता है, तब आत्मा की शक्ति प्रकट होने लगती है ।

आसनोंके अभ्यास से शरीर की स्थिरता होती है और शारीरिक आरोग्य प्राप्त होनेके कारण सुख मिलता है । ध्यान से इंद्रियोंकी स्थिरता होती है और भक्तिसे मन शांत होता है । इस प्रकार योगी अपनी चंचलताको दूर करता है । इसलिये इस योगी को ' अ-थर्वा ' अर्थात् ' निश्चल ' कहते हैं । यह निश्चलता प्राप्त करना बडेही अभ्यास का कार्य है ।

' अ-थर्वा ' बनने के पश्चात् सिर और हृदयको सीना चाहिये । सीनेका तात्पर्य एक करना अथवा एकही कार्य में लगाना है । सिर विचार का कार्य करता है और हृदय भक्ति में तल्लीन होता है । सिर के तर्क जब चलते हैं, तब वहां हृदय की भक्ति नहीं रहती; तथा जब हृदय भक्ति से परिपूर्ण हो जाता है, तब वहां तर्क बन्द हो जाता है । केवल तर्क बढनेपर नास्तिकता और केवल भक्ति बढनेपर अंधविश्वास होना स्वाभाविक है । इसलिये वेदने इस मन्त्र में कहा है कि 'सिर और हृदय को सी दो ।' ऐसा करने से सिर अपने तर्क भक्तिके साथ रखता हुआ रहेगा और नास्तिक बनेगा नहीं, तथा भक्ति करते करते हृदय अन्धा बनने लगेगा, तो सिर उसको ज्ञान के नेत्र देगा । इस प्रकार दोनों का लाभ है । सिरमें ज्ञान नेत्र हैं और हृदय की भक्तिमें बडा बल है । इसलिये दोनोंके एकत्रित होने से बडाही लाभ है ।

राष्ट्रीय शिक्षा का विचार करनेवालोंको इस मन्त्र से बडाही बोध मिल सकता है । शिक्षाकी व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि जिससे पढनेवालोंके सिरकी विचार-शक्ति बढे और साथ साथ हृदय की भक्ति भी बढे । जिस शिक्षा-प्रणाली से केवल तर्कना-शक्ति बढती है, अथवा केवल भक्ति बढती है, वह बडी घातक शिक्षा है ।

सिर और हृदयको एक मार्ग में लाकर उनको साथ साथ चलाने का जो स्पष्ट उपदेश इस मन्त्र में है, वह किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं है ।

पहिली अवस्था 'अ-थर्वा' बनना है, तत्पश्चात् सिर और हृदय को सीकर एक करना चाहिये। जब दोनों एक ही मार्ग से चलने लगेंगे, तब बड़ी प्रगति होगी। इतनी योग्यता आनेके लिये बडे दृढ अभ्यास की आवश्यकता है। इसके पश्चात् प्राणको सिर के अन्दर प्रेरित करना है। सिर में मस्तिष्क के उच्चतम भाग में ब्रह्मलोक है। यह योग से साध्य अंतिम उच्चतम अवस्था है। तर्कशक्ति के परे ब्रह्म का स्थान है, इसलिये जबतक तर्क चलते रहते हैं, तबतक ब्रह्म का अनुभव नहीं होता। परन्तु जिस समय तर्क से परे जाना होता है, उस समय इस एक तत्त्वका अनुभव आता है। इस अनुष्ठान का फल अगले चार मन्त्रों में कहा है-

अथर्वाका सिर।

तद्वा अथर्वणः सिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत्प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥ १७ ॥

(२७)

(तद् वा अथर्वणः सिरः समुब्जितः देव-कोशः।) वह निश्चय से योगीका सिर देवों का सुरक्षित खजाना है। (तत् शिरः प्राणः, अन्नं, अथो मनः अभि रक्षति।) उस सिर का रक्षण प्राण, अन्न और मन करते हैं।

इस मन्त्र में अथर्वाके सिरकी योग्यता कही है। स्थिर-चित्त योगीका नाम 'अ-थर्वा' है, इस योगीका सिर देवोंका सुरक्षित भण्डार है। अर्थात् देवों का जो देवपन है, वह इस के सिर में सुरक्षित होता है। शरीर में ये सब इन्द्रिय- (ज्ञान और कर्म इंद्रिय)-देव हैं; तथा पृथिवी, आप, तेज, वायु, विद्युत, सूर्य आदि देवोंके अंश जो शरीर में अन्य स्थानोंमें हैं, वे भी देव हैं। इन सब देवों का संबंध सिरमें होता है, मानो सब देवताओंकी मुख्य सभा सिरमें ही है। सब देव अपना सत्त्व सिरमें रख देते हैं। सब देवोंके सत्त्वांशसे यह सिर बना है और सिर का यह मस्तिष्कका भाग बडा ही सुरक्षित है। इसकी सुरक्षितता 'प्राण, अन्न और मन'के कारण होती है। अर्थात् प्राणायामसे, सात्त्विक अन्न के सेवनसे और मनकी शांति से देवों का उक्त खजाना सुरक्षित रहता है। प्राणायाम से सब दोष जल जाते हैं, सात्त्विक अन्न से शुद्ध परमाणुओं का संचय होता है और मन की शांतिसे समता रहती है।

इस मंत्र में योगी के सिर की योग्यता बताई है और आरोग्य की कुंजी प्रकट की है- (१) विधिपूर्वक प्राणायाम, (२) शुद्ध सात्त्विक अन्न का सेवन और (३) मन की परिशुद्ध शांति, ये आरोग्य के मूल कारण हैं। योगसाधन की सिद्धता के लिये तथा बहुत अंश में पूर्ण स्वास्थ्य के लिये सदा सर्वदा इनकी आवश्यकता है।

अपना सिर देवों का कोश बनाने के लिये हरएक को प्रयत्न करना चाहिये। अन्यथा वह राक्षसों का निवास-स्थान बनेगा और फिर कष्टों की कोई सीमाही नहीं रहेगी। राक्षस सदा हमला करने के लिये तत्पर रहते हैं, इसलिये सदा तत्परता के साथ दैवी भावना का विकास करना चाहिये। ऐसी दैवी भावना की स्थिति होने के पश्चात् जो अनुभव होता है, वह निम्न मंत्र में लिखा है-

सर्वत्र पुरुष।

ऊर्ध्वो नु सृष्टा३ स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३ ॥ पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ २८ ॥

(२८)

(पुरुषः ऊर्ध्वः नु सृष्टाः।) पुरुष ऊपर निश्चयसे फैला है। (तिर्यक् नु सृष्टा।) निश्चय से तिरछा फैला है। तात्पर्य- (पुरुषः सर्वाः दिशः आबभूव।) पुरुष सब दिशाओं में है। (यः ब्रह्मणः पुरं वेद।) जो ब्रह्मकी नगरी जानता है। (यस्याः पुरुष उच्यते।) जिस नगरी में निवास होने के कारण ही उस को पुरुष कहा जाता है।

जब मंत्र २६ के अनुसार अनुष्ठान और मंत्र २७ के अनुसार "दैवी संपत्ति" की सुरक्षा की गयी, तो ही मंत्र २८ का फल अनुभव में आना सम्भव है। "ऊपर, नीचे, तिरछा सभी स्थान में यह पुरुष व्यापक है" ऐसा अनुभव आता है। इस के बिना कोई स्थान रिक्त नहीं है। परमात्मा की सर्वव्यापकता इस प्रकार ज्ञात होती है। पुरी में बसने के कारण (पुरी+वस; पुर्+उस्=पुरुष) आत्मा को पुरुष कहते हैं। यह पुरुष जैसा बाहिर है, वैसा इस शरीर में भी है।

आगे मंत्र ३१ में इस पुरीका वर्णन आ जायगा। पाठक

यहींपर पुरी का वर्णन देख सकते हैं। इस ब्रह्मपुरी, ब्रह्मनगरि, अमरावती, देवनगरी, अयोध्यानगरी आदिको यथावत् जाननेसे जो फल प्राप्त होता है, उसको इस मंत्र २८ मे बताया है। ब्रह्मनगरीको जो उत्तम प्रकारसे जानता है, उस को सर्वात्मभाव, सर्वेश्वर-भाव अथवा सदैक्यभाव का अनुभव आता है। जो पुरुष अपने हृदयाकाश में है, वही सर्वत्र ऊपर नीचे तिरछा सब दिशाओंमें पूर्णतया व्यापक है। वह किसी स्थान पर नहीं ऐसा एक भी स्थान नहीं है। यह अनुभव उपासक को यहां होता है। "आत्मा में सब भूत और आत्मा को सब भूतों में वह देखने लगता है।" और वह अनुभवसे जानता है कि सब भूत आत्मा ही है (ईश. उ. ६-७)। जो यह देखता है, उन को शोक मोह नहीं होते और उस से कोई अपवित्र कार्य भी नहीं होते।

ब्रह्मज्ञानका फल।

यो वै तां ब्रह्मणो वेदाऽमृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥ २९ ॥

(२९)

(यः वै अमृतेन आवृतां तां ब्रह्मणः पुरं वेद।) जो निश्चय से अमृत से परिपूर्ण उस ब्रह्म की नगरीको जानता है, (तस्मै ब्रह्म ब्राह्माः च चक्षुः, प्राणं, प्रजां, च ददुः।) उसको ब्रह्म और ब्रह्मसे उत्पन्न अन्य देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं।

ब्रह्मनगरीका वर्णन इस मन्त्रमें है। (अमृतेन आवृता ब्रह्मणः पुरिः) अर्थात् 'अमृतसे आवृत ब्रह्म की नगरी है।' आत्मा अ-मृत रूप होने से जो उसको प्राप्त करता है, वह अमर बन जाता है। इसलिये हरएक को यथाशक्ति इस मार्ग में प्रयत्न करना चाहिये। यह ब्रह्मकी नगरी कहां है, उस स्थान का पता मन्त्र ३१ में पाठक देखेंगे।

ब्रह्म नगरी को यथावत् जानने से ब्रह्म और सब (ब्राह्म देव) प्रसन्न होते हैं और उपासक को चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं। 'ब्रह्म' शब्द से 'आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म' का बोध होता है और 'ब्राह्माः' शब्दसे 'ब्रह्मसे बने हुए अन्य देव अर्थात् अग्नि, वायु, रवि, विद्युत्, इंद्र, वरुण आदि देव बोधित होते हैं।' ब्रह्मनगरी को जाननेसे ब्रह्म की प्रसन्नता होती है और संपूर्ण अन्य देवोंकी भी प्रसन्नता होती है। प्रसन्न होनेसे ये सब देव और सब देवों का मूल प्रेरक ब्रह्म इस उपासक को तीन पदार्थों का अर्पण करते हैं। ये तीन पदार्थ 'चक्षु, प्राण और प्रजा' नाम से इस मन्त्र में कहे हैं।

'चक्षु' शब्दसे इंद्रियोंका बोध होता है। सब इंद्रियों में चक्षु मुख्य होने से, मुख्य का ग्रहण करने से गौणोंका स्वयं बोध होता है। 'प्राण' शब्द से आयु का बोध होता है। क्योंकि प्राणही आयु है। 'प्रजा' शब्द से 'अपनी औरस संतति' की जाती है। तात्पर्य 'चक्षु, प्राण और प्रजा' शब्दों से क्रमशः (१) संपूर्ण इंद्रियों का स्वास्थ्य, (२) दीर्घ आयुष्य और (३) उत्तम संततिका बोध होता है। उपासनासे प्रसन्न हुए ब्रह्म और सब अन्य देव उक्त तीन वर देते हैं। ब्रह्मज्ञान का यह फल है।

(१) शरीरका उत्तम बल और आरोग्य, (२) अति दीर्घ आयुष्य और (३) सुप्रजानिर्माण की शक्ति ब्रह्म-ज्ञान से प्राप्त होती है। इनमें मनकी शांति, बुद्धि की समता और आत्मिक बल की संपन्नता अन्तर्भूत है। मानसिक शांति के अभावमें, बौद्धिक समता न होने पर तथा आत्मिक निर्बलता की अवस्था में, न तो शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होनेकी संभावना है और न दीर्घायुष्य तथा सुप्रजानिर्माण की शक्यता है। ये सद्गुण तथा इनके अतिरिक्त अन्य सब शुभ गुण ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होते हैं।

ब्रह्म की कृपा और देवोंकी प्रसन्नता होने से जो उत्तम फल मिल सकता है, वह यही है। आर्य राष्ट्रमें प्राचीन काल के लोग अति दीर्घ आयुष्य से संपन्न थे, बलिष्ठ थे और अपनी इच्छानुसार स्त्रीपुरुष संतानकी उत्पत्ति तथा विद्वान् शूर आदि जिस चाहे उस प्रवृत्ति की संतति उत्पन्न करते थे। इस विषयमें शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम अध्याय में अथवा बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तिम विभाग में प्रयोग स्पष्ट शब्दोंमें लिखे हैं। इतिहास पुराण ग्रंथोंमें इस विषय की बहुतसीं साक्षियां हैं। पाठक वहां इस बातको देख सकते हैं।

सन्तान उत्पत्ति की संभावना होने की आयुमें ही ब्रह्म ज्ञान होने योग्य शिक्षा प्रणाली राष्ट्र में होनी चाहिये। आठ वर्ष की आयु में उपनयन करके उत्तम गुरुके पास

योगादि अभ्यास का प्रारंभ करने से २०-२५ वर्ष की अवधि में ब्रह्मसाक्षात्कार होना असंभव नहीं है।

आज कल ब्रह्मज्ञान का विषय वृद्धोंका ही है, ऐसा समझा जाता है। उन के मत का निराकरण इस मन्त्र के कथन से हो गया है। ब्रह्मज्ञान का विषय वास्तविक रीति से 'ब्रह्म-चारी' योंका ही है। वनमें गुरुकुलों में रहते हुए ये 'ब्रह्म-चारी' ही ब्रह्मप्राप्ति का उपाय कर सकते हैं और ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्तितक 'ब्रह्म-पुरी' का पता लगा सकते हैं। तथा इसी आयुमें (१) शारीरिक स्वास्थ्य, (२) दीर्घ आयुष्य और (३) सुप्रजा निर्माण की शक्ति, आदि की नींव डाल सकते हैं। इस रीति से सच्चे ब्रह्मचारी, ब्रह्मपुरी में जाकर, ब्रह्मज्ञानी बनकर, ब्रह्मनिष्ठ रहते हुए उत्तर तीनों आश्रमों में शांतिके साथ त्यागपूर्वक भोग करते हुए भी कमलपत्र के समान निर्लेप और निर्दोष जीवन व्यतीत कर सकते हैं। इस विषयके आदर्श वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, जनक, श्रीकृष्ण आदि हैं।

हरएक आयुमें ब्रह्मज्ञानके लिये प्रयत्न होना ही चाहिये। यहां उक्त बात इसलिये लिखी है कि यदि नवयुवकों की प्रवृत्ति इस दिशा में हो गई, तो उनको अपना जीवन पवित्र बनाकर उत्तम नागरिक बननेद्वारा सब जगत् में सच्ची शांति स्थापन करने के महत्कार्य में अपना जीवन समर्पण करनेका बडा सौभाग्य प्राप्त हो सकता है।

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा॥
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥

(३०)

(यस्याः पुरुष उच्यते, ब्रह्मणः पुरं यः वेद।) जिस के कारण (आत्मा को) पुरुष कहते हैं, उस ब्रह्म की नगरी को जो जानता है, (तं जरसः पुरा चक्षुः न जहाति, न वै प्राणः।) उस को वृद्धावस्था के पूर्व चक्षु छोडता नहीं और न प्राण छोडता है।

मंत्र २९ में जो कथन है, उसी का स्पष्टीकरण इस मंत्र में है। ब्रह्मपुरी का ज्ञान प्राप्त होने पर जो अपूर्व लाभ होता है, उस का वर्णन इस मंत्र में है- (१) अति वृद्ध अवस्था के पूर्व उस के चक्षु आदि इंद्रिय उस को छोडते नहीं, (२) और न प्राण उस को उस वृद्ध अवस्था के पूर्व ही छोडता है। प्राण जल्दी चला गया, तो अकाल में मृत्यु होती है और अल्प आयु में इंद्रिय नष्ट होने से अन्धापन आदि शारीरिक न्यूनता कष्ट देती है। ब्रह्मज्ञानी को ये कष्ट नहीं होते।

आठ	वर्षकी	आयुतक कुमार	अवस्था,
सोलह	,,	,, बाल्य	,,
सत्तर	,,	,, तारुण्यकी	,,
सौ	,,	,, वृद्ध	,,
एकसोवीस	,,	,, जीर्ण	,, पश्चात् मृत्यु।

ब्रह्मज्ञानीका प्राण जरा अवस्था के पूर्व नहीं जाता। इस अवस्थातक वह आरोग्य और शांति का उपभोग लेता है और तत्पश्चात् अपनी इच्छा से शरीर का त्याग करता है।

यह ब्रह्मविद्या ऐसी लाभदायक है। ये लाभ प्रत्यक्ष हैं। इस के अतिरिक्त जो आत्मिक शक्तियों के विकास का अनुभव होता है, वह अलग ही है। पाठक इस का विचार करें। अगले मंत्र में देवों की नगरी का स्वरूप बताया है, देखिये-

ब्रह्मकी नगरी। अयोध्या नगरी।

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ॥
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥३१॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ॥
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥३२॥

(३१)

(अष्टा चक्रा, नव-द्वारा, अयोध्या देवानां पूः।) जिस में आठ चक्र हैं, और नौ द्वार हैं, ऐसी यह अयोध्या, देवों की नगरी है। (तस्यां हिरण्ययः कोशः, ज्योतिषा आवृतः स्वर्गः।) उस में तेजस्वी कोश है, जो तेज से परिपूर्ण स्वर्ग है।

(३२)

(त्रि-अरे, त्रि-प्रतिष्ठिते, तस्मिन् तस्मिन् हिरण्यये कोशे, यत् आत्मन्-वत् यक्षं, तद् वै ब्रह्म-विदः विदुः।) तीन आरोंसे युक्त, तीन केंद्रोंमें स्थिर, ऐसे उसी तेजस्वी कोश में, जो आत्मवान् यक्ष है, उसको निश्चय से ब्रह्मज्ञानी जानते हैं।

यह मनुष्य-शरीर ही "देवों की अयोध्या नगरी" है। इस को नौ द्वार हैं। दो आंख, दो कान, दो नाक,

मुख, एक मूत्रद्वार और एक गुदद्वार मिलकर नौ द्वार हैं। पूर्व द्वार मुख है और पश्चिम द्वार गुदा है। पूर्व द्वारसे अन्दर प्रवेश होता है और पश्चिम द्वार से बाहिर गमन होता है। अन्य द्वार छोटे हैं और उनसे करनेके कार्य निश्चित ही हैं। प्रत्येक द्वारमें रक्षक देव मौजूद हैं और वे कभी अपना नियोजित कार्य छोडकर अन्य कार्य नहीं करते। इन नौ द्वारों के विषय में श्रीमद्भगवद्गीता में निम्न प्रकार कहा है- "जो ब्रह्म में अर्पण कर आसक्तिविरहित कर्म करता है, उस को वैसे ही पाप नहीं लगता, जैसे कि कमलके पत्ते को पानी नहीं लगता। अतएव कर्मयोगी शरीर से, मन से, बुद्धि से और इंद्रियों से भी, आसक्ति छोडकर आत्मशुद्धि के लिये कर्म किया करते हैं॥ जो योगयुक्त हो गया, वह कर्मफल छोडकर पूर्णशांति पाता है, परन्तु जो योगयुक्त नहीं है, वह वासना से फल के विषय में आसक्त होकर बद्ध हो जाता है। सब कर्मों का मन से संन्यास कर, जितेंद्रिय देहवान् पुरुष नौ द्वारों के इस देहरूपी नगर में न कुछ करता और न कराता हुआ आनंद से रहता है॥" (गीता ५।१०-१३) अर्थात् वह सब कुछ करता हुआ न करनेवाले के समान शांत रहता है। यह श्रेष्ठ सिद्धि इस देह में रहते हुए प्रयत्न से प्राप्त हो सकती है।

नौ द्वारों के अतिरिक्त इस देह में किंवा इस ब्रह्मपुरि में आठ चक्र हैं- (१) मूलाधार चक्र- गुदा के पास पृष्ठवंशसमाप्ति के स्थान में है, यही इस नगरी का मूल आधार है। (२) स्वाधिष्ठान चक्र- उस के ऊपर है। (३) मणिपूरक चक्र- नाभिस्थान में है। (४) अनाहत चक्र- हृदयस्थान में है। (५) विशुद्धि चक्र- कंठस्थान में है। (६) ललना चक्र- जिह्वामूल में है। (७) आज्ञा चक्र- दोनों भौहों के बीच में है। (८) सहस्रार चक्र- मस्तिष्क में है। इन के अतिरिक्त और भी चक्र हैं, परन्तु ये मुख्य हैं। इन में से एक एक चक्र का महत्त्व योगसाधन के मार्ग में अत्यन्त है, क्योंकि प्रत्येक चक्र में प्राण पहुंचने से यहां से अद्भुत शक्ति का आविष्कार होता है। इन आठ चक्रों के कारण यह नगरी बडी शक्तिशाली हुई है। जैसे किले पर शत्रुनिवारण के लिये शस्त्रास्त्र रहते हैं, वैसे ही इस नगरी के संरक्षण के लिये इन आठ चक्रों में संपूर्ण शक्तियां शस्त्रास्त्रों समेत रखी हैं। इन चक्रों के द्वारा ही हमारा आरोग्य है और बुद्धि, मन, इंद्रियां और शरीर की सब शक्ति है। जो मनुष्य इन सब शक्तियों के आठ केंद्र अपने अधीन कर लेता है, उस को शारीरिक आरोग्य, दीर्घ आयुष्य, सुप्रजा-निर्माण की शक्ति, इंद्रियों की स्वाधीनता, मनकी शांति, बुद्धि की समता और आत्मिक बल सहज प्राप्त होते हैं।

इस में जो हृदयकोश है, उस कोश में "आत्मन्वत् यक्ष" रहता है, इस यक्षको ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं। यही यक्ष केन उपनिषद् में कहा है। यह यक्ष ही सब का प्रेरक है। यह "आत्मवान् यक्ष" है। यह सब इंद्रियों और प्राणों को प्रेरणा कर के सब से कार्य कराता है। यही अन्य देवों का अधिदेव है। शरीर में जो देवों के अंश हैं, उन सब देवों की नियंत्रणा करनेवाला यही आत्मदेव है। यही आत्माराम है। इस "राम" की यह दिव्य नगरी "अयोध्या" नाम से सुप्रसिद्ध है।

इस नगरी में तेजोमय स्वर्ग है। स्वर्गधाम यहां ही है, स्वर्ग प्राप्ति के लिये बाहिर जाने की जरूरत नहीं है। इस पुरी में ही स्वर्ग है। जो इस को देखना चाहते हैं, यहां ही देखें। सात्विक भावना, राजस भावना और तामस भावना ये तीन इसके आरे हैं। इसके कारण इस में तीन गतियां उत्पन्न होती हैं। इन को देखने से इस की अद्भुत रचना का पता लग सकता है। इन तीनों गतियों को शांत कर के त्रिगुणों के परे जाने से उस "आत्मवान् यक्ष" का दर्शन होता है।

यह जैसी ब्रह्म की नगरी (ब्रह्मणः पूः) है, उसी प्रकार यही (देवानां पूः) देवों की नगरी भी है। जैसी यह ब्रह्म से परिपूर्ण है, वैसी ही यह देवों से परिपूर्ण है। पृथिव्यादि सब देव और देवताएं इस में रहती हैं और उन को आकर्षण करनेवाला यह आत्मदेव इस में अधिष्ठाता रहता है। यह आत्मवन् यक्ष "आत्मा" शब्द के पुल्लिंग होने पर न पुरुष है, "देवी" शब्द के स्त्रीलिंग होने पर न स्त्री है और "यक्षं" शब्द नपुंसकलिंग होने से न वह नपुंसक है। तीनों लिंगों से भिन्न वह शुद्ध तेजस्वी "केवल आत्मा" है। यही दर्शनीय है। उक्त ब्रह्मपुरी में आकर इस का दर्शन कैसे किया जाता है, यह बात निम्न मंत्र में कही है-

अपनी राजधानीमें ब्रह्म का प्रवेश।

प्र भ्राजमानां हरिणीं यशसा सं परीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ ३३ ॥

(प्रभ्राजमानां, हरिणीं, यशसा सं परिवृतां, अपराजितां, हिरण्ययीं पुरं, ब्रह्म आविवेश।) तेजस्वी, दुःख हरण करनेवाली, यश से परिपूर्ण, कभी पराजित न हुई, ऐसी प्रकाशमय पुरी में, ब्रह्म आविष्ट होता है।

यह ब्रह्मपुरी तेजस्वी है और (हरिणी) दुःखोंका हरण करनेवाली है। इसको प्राप्त करने से तथा पूर्णतासे वशीभूत करने से सब दुःख दूर हो जाते हैं। इसको "पुरि" कहते हैं। क्योंकि इसमें पूर्णता है। जो पूर्ण होती है, वही "पुरि" कहलाती है। पूर्ण होनाही यशस्वी बनना है। जो परिपूर्ण बनता है, वही यशस्वी होता है। अपूर्णताके साथ यश का संबंध नहीं होता, परन्तु सदा पूर्णताके साथ ही यश का संबंध होता है।

जो तेजस्वी, दुःखहारक, पूर्ण और यशस्वी होता है, वह कभी पराजित नहीं होता, अर्थात् सदा विजयी होता है। '(१) तेज, (२) निर्दोषता, (३) पूर्णता, (४) यश और (५) विजय' ये पांच गुण एक दूसरे के साथ मिलेजुले रहते हैं। (१) भ्राज, (२) हरण, (३) पुरी, (४) यश, (५) अपराजित, ये मन्त्रके पांच शब्द उक्त पांच गुणों के सूचक हैं। पाठक इन शब्दों को स्मरण रखें और उक्त पांच गुणों को अपने में स्थिर करने और बढाने का यत्न करें। जहां ये पांच गुण होंगे, वहां (हिरण्य) धन रहेगा, इस में कोई सन्देह ही नहीं है। धन्यता जिस में मिलती है, वही धन होता है और उक्त पांच गुणोंके साथ धन्यता अवश्य ही रहेगी।

इस सूक्तका महत्त्व।

'केन' शब्द ही इस सूक्त में महत्त्वपूर्ण है। 'किसने यह सब बनाया?' यही प्रश्न संपूर्ण तत्त्वज्ञान को उत्पन्न करनेवाला है।

व्यक्तिके प्रश्न।

१. शरीरके अवयव, इंद्रिय तथा अंग किसने बनाये और किसने उनमें विशेष शक्ति रखी है?

२. शरीर में वाणी किसने रखी है?

३. मस्तिष्क में सब प्रकार का ज्ञान कौनसा देव संगृहित करके रखता है?

४. प्रिय अप्रिय, आलस्य उद्योग, आनन्द दुःख आदि इस मनुष्य को क्यों प्राप्त होते हैं? समृद्धि और दरिद्रता, बुद्धि और दुर्बुद्धि, उन्नति और अवनति किस कारण मनुष्य को प्राप्त होती हैं।

५. इस शरीर में रुधिराभिसरण कौन करता है? प्राण का संचालन कौन करता है? ज्ञान और चारित्र्य यहां कैसे होते हैं?

६. इसमें यज्ञ करने की प्रवृत्ति किस तरह उत्पन्न होती है? सत्य असत्य, अमरपन और मृत्यु कैसे होते हैं? श्रद्धा और बुद्धि किसने इस में रखी है?

७. संतति होने के लिये वीर्य किसने इस शरीर में उत्पन्न किया है?

विश्वके विषय में प्रश्न।

१. मेघों में जल किसने रखा है?

२. भूमि अन्तरिक्ष और द्युलोक यथास्थान किसने रखे हैं? पर्वत किसने बनाये हैं?

३. मेघोंसे वृष्टि कौन कराता है? सोम आदि औषधियां किस देवने उत्पन्न की हैं?

४. दिन रात्र, प्रकाश अन्धेरा, सबेरा और सायंकाल किसने बनाया है?

५ संवत्सर का मापन कौन करता है?

मानव-समाज-विषयक प्रश्न।

१. सद्गुरु की प्राप्ति कैसी होती है? ज्ञान कौन देता है?

२. दिव्य जनों की संस्थिति कैसी होती है?

३. ब्राह्मण और क्षत्रिय कौन उत्पन्न करता है?

ऐसे अनेकविध प्रश्न इस सूक्त के प्रारंभ में पूछे हैं। ये प्रश्न ही तत्त्वजिज्ञासा को जाग्रत करनेवाले हैं। येही प्रश्न तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति करनेवाले हैं। सब प्रकार के सत्यज्ञान की उत्पत्ति इन प्रश्नों से होती है।

सब प्रश्नों का एक ही उत्तर दिया है और वह है 'ब्रह्म' अर्थात् अकेला ब्रह्म ही यह सब करता है। ब्रह्म से भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक बने, ब्रह्मसे ही सब प्राणी बने, ब्रह्म से मानव बने, मानव में कर्तृत्व-शक्ति, बुद्धि-

शक्ति, यश की इच्छा, अमरपन-प्राप्ति की इच्छा यह सब ब्रह्म से ही होता है। ब्रह्म से वेद, ब्रह्म से ज्ञान, ज्ञान से कर्म, कर्म से यज्ञ, यज्ञ से उन्नति होती है। ब्रह्म से वेद, वेद से वेदज्ञ श्रोत्रिय, श्रोत्रिय से यज्ञ और यज्ञ से उन्नति होती है। अर्थात् यह सब ब्रह्म से ही हो रहा है। भूत-भविष्य वर्तमान में जो हो रहा है, वह सब ब्रह्म से ही हो रहा है।

सहस्रों प्रश्नों का एक ही उत्तर है और वह 'ब्रह्म' ही है। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' यह सब ब्रह्म ही है। यहां ब्रह्म के विना दूसरा कोई पदार्थ नहीं है।

कई समझते हैं, वैसा 'जीव' भी पृथक् अथवा स्वतन्त्र नहीं है। जीव ब्रह्म का अंश है, ब्रह्म से ही सब देव बने हैं, इसीलिये देवों को 'ब्राह्म' कहा है। देवों को ब्राह्म कह कर देवों की ब्रह्मरूपता को मंत्र २९ में स्पष्ट कर दिया है। ब्रह्म है और उस से बने सब देव 'ब्राह्माः' हैं, ब्रह्म के ही ये रूप हैं।

अतः संपूर्ण विश्व ही 'ब्राह्म' है क्योंकि संपूर्ण विश्व ब्रह्म का ही आविर्भाव है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, विद्युत, औषधियां, मेघ, सूर्य, द्युलोक आदि सब देवताओं का समूह ही विश्व है। यह विश्व ही ब्रह्म है। अतः ब्रह्मको छोडकर यहां कुछ भी दूसरी वस्तु नहीं है। सर्वत्र एक ही ब्रह्म है और सब विश्व उसी का आविर्भाव है। इस लिये संपूर्ण प्रश्नों का उत्तर एक 'ब्रह्म' शब्द से दिया जाता है। इसी उत्तर से एक तत्त्व का दर्शन होता है।

जो आप देखते हैं, जो आप चखते हैं, जो खाते हैं, जो सुनते हैं, जिस का आपको अनुभव आता है, जो भूतकाल में हो चुका था, जो इस समय है, जो भविष्य में होगा, जिस के साथ आप का व्यवहार हो रहा है, वह सब ब्रह्म ही है। ऊपर नीचे, दायीं ओर और बाईं ओर, अन्दर और बाहर, आगे पीछे, तिरछा सब कुछ ब्रह्म ही है, पुरुष ही है। आत्मा ही है, ईश्वर ही है। सब एक ही सत् है। (मं २८)

यह सब ईश्वर है, यह सब सत् है, यही सब ब्रह्म है। यहां दो वस्तु नहीं हैं। सब एक ही एक तत्त्व है। 'जो सब भूत आत्मा ही है ऐसा जानता है, उस एकत्व का दर्शन करनेवाले को शोक मोह नहीं होते।' (ईश. ७) शोक मोह दूर करनेवाला यह ज्ञान वेदने दिया है। जो इस का ग्रहण करेंगे, उन्हीं के शोकमोह दूर होंगे।

वेदका रहस्य।

[अध्याय १९]

देवशुनी सरमा।

[लेखक- श्रीअरविंद; अनुवादक- स्वामी अभयदेवजी]

अब भी अंगिरसों के कथानक के दो स्थिरभूत अंग अवशिष्ट हैं, जिन के कि सम्बन्ध में हमें थोडा और अधिक प्रकाश प्राप्त करने की आवश्यकता है, जिस से कि हम सत्य के, और प्राचीन पितरों के द्वारा उषा की ज्योतियों की पुनः प्राप्ति के इस वैदिक विचार को पूर्णतया प्रवीणता-पूर्वक समझ सकें; अर्थात् हमें सरमा के स्वरूप को और पणियों के ठीक-ठीक व्यापार को नियत करना है, जो दो वैदिक व्याख्या की ऐसी समस्याएं हैं, जो कि घनिष्ठता के साथ परस्पर सम्बद्ध है। यह कि सरमा प्रकाश की और संभवतः उषा की कोई शक्ति है बहुत ही स्पष्ट है, क्योंकि एक बार जब हम यह जान लेते हैं कि, वह संघर्ष जिस में इन्द्र तथा आदिम आर्य-ऋषि एक तरफ थे और 'गुफा' के पुत्र दूसरी तरफ थे, वह संघर्ष कोई आदिकालीन भारतीय इतिहास का अनोखा विकृत रूप नहीं है, बल्कि यह प्रकाश और अन्धकार की शक्तियों के बीच होनेवाला एक आलंकारिक युद्ध है, तो सरमा जो कि जगमगानेवाली गौओं की खोज में आगे आगे जाती है और मार्ग तथा पर्वत का गुप्त दुर्ग इन दोनों को खोज लेती है, अवश्यमेव मानवीय मन के अन्दर सत्य की उषा की अग्रदूती होनी चाहिए और यदि हम अपने आप से पूछे कि, सत्यान्वेषिणी का कार्यशक्तियों में से वह कौनसी शक्ति है, जो कि इस प्रकार हमारी सत्ता में अज्ञात के अन्धकार में छिपे पडे हुए सत्य को वहाँ से खोज लाती है, तो तुरन्त हमें अन्तर्ज्ञान (Intuition) का स्मरण आयेगा। क्योंकि 'सरमा' सरस्वती नहीं है, वह अन्तःप्रेरणा (Inspiration) नहीं है, यद्यपि ये दोनों नाम हैं सजातीय से। सरस्वती देती है ज्ञान के पूर्ण प्रवाह को; वह महतोधारा, 'महो अर्णः' है, या महतीधारा को जगानेवाली है और वह प्रचुरता के साथ सब विचारों को प्रकाशित कर देती है, 'विश्वा धियो विराजति।' 'सरस्वती' सत्य के प्रवाह से युक्त है और स्वयं सत्य का प्रवाह है; 'सरमा' है सत्य के मार्ग पर यात्रा करनेवाली और इसे खोजनेवाली जो कि स्वयं उस से युक्त नहीं है, बल्कि जो खोया हुआ है, उसे ढूंढकर पानेवाली है। नहीं वह 'इळा' देवी के समान, स्वतः प्रकाश-ज्ञान (Revelation) की सम्पूर्ण वाणी, मनुष्य की शिक्षिका है; क्योंकि जिसे वह खोजना चाहती है उसका पता पालने के बाद भी वह उसे अधिगत नहीं कर लेती, बल्कि सिर्फ यह खबर ऋषियों को तथा उनके दिव्य सहायकों को पहुंचा देती है, जिन्हें कि उस प्रकाश को जिस का कि पता लग गया हैं, अधिगत करने के लिए फिर भी युद्ध करना पडता है।

तो भी हम देखते हैं कि, वेद स्वयं सरमाके बारे में क्या कहता है? सूक्त १.१०४ में एक ऋचा (५ वीं) है, जिस में कि सरमा के नाम का उल्लेख नहीं है, नाहीं वह सूक्त स्वयं अंगिरसों या पणियों के विषय में है, तो भी वह पंक्ति ठीक उसी बात का वर्णन कर रही है, जो कि, वेद में सरमा का कार्य बताया गया है- "जब कि, यह पथप्रदर्शक प्रत्यक्ष हो गया, वह, जानती हुई, उस सदन की तरफ गई जो कि मानो 'दस्यु' का घर था।"

प्रति यत् स्या नीथादर्शि दस्योरोको नाच्छा सदनं जानती गात्।

सरमा के ये दो स्वरूप हैं; (१) ज्ञान उसे प्रथम ही, दर्शन से पहिले, हो जाता है, न्यूनतम संकेत मात्र पर सहज रूप से वह उसे उद्भासित हो जाता है, तथा (२) उस ज्ञान से वह बाकी की कार्यशक्तियों का और दिव्यशक्तियों का जो कि, उस ज्ञान को खोजने में लगी होती हैं,

पथप्रदर्शन करती है। और वह उस स्थान 'सदनम्' को, विनाशकों के घर को ले जाती है, जो कि सत्य के स्थान, 'सदनम् ऋतस्य' की अपेक्षा सत्ता के दूसरे ध्रुव (Pole) पर है जो अन्धकार की गुफा या गुह्यस्थान में-गुहायाम्- है, ठीक वैसे ही जैसे कि देवों का घर प्रकाश की गुफा या गुह्यता में है। दूसरे शब्दों में, वह एक शक्ति है, जो कि पराचेतन सत्य (Superconscient Truth) से अवतीर्ण होकर आई है, जो कि, हमें उस प्रकाश तक ले जाती है, जो हमारे अन्दर अवचेतन (Subconscient) में छिपा पड़ा है। ये सब विशेषगुण अन्तर्ज्ञान (Intuition) पर बिल्कुल घटते हैं।

सरमा नाम लेकर वेद के बहुत थोडे सूक्तों में उल्लिखित हुई है और वह नियत रूपसे अंगिरसोंके महाकार्यके या सत्ता के सर्वोच्च स्तरों की विजय के साथ सम्बद्ध होकर आई है। इन सूक्तों में सब से अधिक आवश्यक सूक्त है, अत्रियों का सूक्त ५.४५., जिस के विषय में हम नवग्वा तथा दशग्वा अंगिरसों की अपनी परीक्षा के प्रसंग में पहले भी ध्यान दे चुके हैं। प्रथम तीन ऋचाएं उस महाकार्य को संक्षेप में वर्णित करती हैं- "शब्दों के द्वारा द्यौ को पहाडी का भेदन कर के उसने उन्हें पा लिया, हाँ, आती हुई उषा की चमकीली (ज्योतियाँ) खुलकर फैल गईं, उसने उन्हें खोल दिया जो कि बाडे के अन्दर थीं, स्वः ऊपर उठ गया; एक देवने मानवीय द्वारों को खोल दिया × ॥१॥

सूर्यने बल और शोभा को प्रचुर रूपमें पा लिया; गौओं की माता (उषा) जानती हुई विस्तीर्णता (के स्थान) से आई; नदियाँ तेज प्रवाह हो गईं, वे प्रवाह जिन्होंने कि (अपनी प्रणाली को) काटकर बना लिया; द्यौ एक सुगठ स्तम्भ के समान दृढ हो गया + ॥२॥ इस शब्द के प्रति गर्भिणी पहाडी के गर्भ महतियों के (नदियों के या अपेक्षाकृत कम सम्भव है कि उषाओं के) उच्च जन्म के लिए बाहर निकल पडे। पहाडी पृथक् पृथक् विभक्त हो गई, द्यौ पूर्ण हो गया (या उसने अपने आप को सिद्ध कर लिया); वे (पृथिवी) पर बस गये और उन्होंने विशालता को बाँट दिया * ॥३॥" ये इन्द्र तथा अंगिरस हैं, जिन के सम्बन्ध में ऋषि कह रहा है, जैसा कि बाकी सारा सूक्त दर्शाता है और जैसा कि, वस्तुतः ही प्रयोग किये गये मुहावरों से स्पष्ट हो जाता है; क्योंकि ये आंगिरस गाथा में आमतौर से प्रयुक्त होनेवाले सूत्र हैं और ये ठीक उन्हीं मुहावरों को दोहरा रहे हैं, जो मुहावरे उन सूक्तों में सतत रूप से प्रयुक्त हुए हैं, जो कि उषा, गौओं और सूर्य की मुक्ति के सूक्त हैं।

इनका अभिप्राय क्या है, यह हम पहलेसे ही जानते हैं। हमारी पहले से बनी हुई त्रिगुण (मनःप्राणशरीरात्मक) सत्ता की पहाडी जो कि अपने शिखरों से आकाश (द्यौ) में उठी हुई है, इन्द्रद्वारा विदीर्ण कर दी जाती है और उस में छिपी हुई ज्योतियाँ खुली फैल जाती है, 'स्वः' पराचेतना का उच्चतर लोक, चमकीली गौओं (ज्योतियों) के ऊर्ध्वमुख प्रवाह के द्वारा अभिव्यक्त हो जाता है। सत्य का सूर्य अपने प्रकाश की संपूर्णशक्ति और शोभाको प्रकट कर देता है, आन्तरिक उषा ज्ञान से प्रकट हुई प्रकाशमान विस्तीर्णता से उदित होती है,- 'जानती गात्' यह वही वाक्यांश है जो कि, १,१०४,५ में उस के लिए प्रयुक्त हुआ है जब कि 'दस्यु' के घर को ले जाती है; और ३.३१.६ में सरमा के लिये,- सत्य को नदियां जो कि इस की सत्ता तथा इसकी गति के बहिः प्रवाह (ऋतस्य प्रेषा) को सूचित करती हैं, अपनी तेजधाराओं में नीचे उतरती हैं और अपने जलों के लिए यहाँ एक प्रणालीका निर्माण करती हैं; द्यौ, मानसिक सत्ता, पूर्ण बन जाती है और एक सुगठ

× विद्रा दिवो विष्यन्नद्रिमुक्थैरायत्या उषसो अर्चिनो गु. ।
अपावृत व्रजिनीरुत् स्वर्गाद् वि दुरो मानुषीर्देव आवः ॥ ५.४५.१ ॥

\+ वि सूर्यो अमतिं न श्रियं सादोर्वाद् गवां माता जानती गात् ।
धन्वर्णसो नद्यः खादोअर्णाः स्थूणेव सुमिता दृंहत द्यौः ॥ ५.४५.२ ॥

* अस्मा उक्थाय पर्वतस्य गर्भो महीनां जनुषे पूर्व्याय ।
वि पर्वतो जिहीत साधत द्यौराविवासन्तो दसयन्त भूम ॥ ५.४५.३ ॥

*

स्तम्भ की न्याईं सुदृढ हो जाती है जिस से कि वह उस उच्चतर या अमर जीवन के बृहत् सत्य को थाम सके जो, कि. अब अभिव्यक्त कर दिया गया है और उस सत्य की विशालता यहाँ सारी भौतिक सत्ता के अन्दर बस गई है। पहाडीके गर्भों, '**पर्वतस्य गर्भः**' का जन्म, उन ज्योतियों का जन्म जो कि सात सिरोंवाले विचार, '**ऋतस्य धीतिः**' को निर्मित करती हैं और जो कि अन्तःप्रेरित शब्दके प्रत्युत्तर में निकलती हैं, उन सात महान् नदियों के उच्च जन्म को प्राप्त कराता है जो नदियाँ क्रियाशील गति में वर्तमान सत्यके सारतत्त्व, '**ऋतस्य प्रेषा**' को निर्मित करती हैं।

फिर इन्द्र और अग्नि का आवाहन करके 'पूर्ण वाणी के उन शब्दों द्वारा जो कि देवों को प्रिय हैं;' क्योंकि इन्हीं शब्दों द्वारा मरुत् × यज्ञों को करते हैं, उन द्रष्टाओं के रूप में जो कि अपने द्रष्टृ-ज्ञान द्वारा यज्ञिय कर्मको सुचारुरूपसे करते हैं, " उक्थेभिर्हि ष्मा कवयः सुयज्ञा ... मरुतो यजन्ति ॥ ४ ॥ ऋषि इस के बाद मनुष्यों के मुखसे एक उद्बोधन और पारस्परिक प्रोत्साहन के वचन कहलाता है कि, वे भी क्यों न पितरों के समान कार्य करें और उन्हीं दिव्य फलों को प्राप्त कर लें। 'अब आ जाओ, आज हम विचारमें पूर्ण हो जायें, कष्ट और असुविधा को नष्ट कर डालें, उच्चतर सुख अपनायें, '

एतोन्वद्य सुध्यो भवाम प्रदुच्छुना मिनवामा वरीयः।

'सब प्रतिकूल वस्तुओं को (उन सब वस्तुओं को जो कि आक्रमण करती और विभक्त कर देती हैं, द्वेषांसि) अपने पास सदा बहुत दूर रखें; हम यज्ञ के पतिकी तरफ आगे बढे ' ॥ ५ ॥ ✱ आओ, मित्रो, हम विचार को रचें, (स्पष्ट ही जो कि सात-सिरोंवाला अंगिरसोंका विचार है) जो कि माता (अदिति या उषा) है और जो कि '**गौ** के आवरण करनेवाले बाडे को हटा देता है + ।' अभिप्राय पर्याप्त स्पष्ट है, यह ऐसे ही सन्दर्भों में होता है जैसे कि ये हैं कि वेद का आन्तरिक आशय अपने आप को प्रतीक के आवरण से आधा मुक्त कर लेता है। इस के बाद ऋषि उस महान् और प्राचीन उदाहरण का उल्लेख करता है जिसके लिए मनुष्यों को पुकारा गया है कि, वे उसे दोहरायें, वह है अंगिरसों का उदाहरण, सरमा का महापराक्रम कार्य।

' यहाँ पत्थर गतिमय हो गया, जिसके द्वारा नवग्वा दस महीनों तक मन्त्र का गान करते रहे, सरमाने सत्य के पास जाकर गौओं को पा लिया, अंगिरसोंने सब वस्तुओं को सत्य कर दिया ❀ ॥ ७ ॥ जब कि इस एक **महती** (उषा जो कि असीम अदिति को सूचित करती है **माता गवामदितेरनीकम्**) के उदय में सब अंगिरस गौओं के साथ (अथवा इस की अपेक्षा शायद यह ठीक हो कि प्रकाशों के द्वारा जो प्रकाश कि गौओं या किरणों के प्रतीक से सूचित होते हैं,) मिलकर इकट्ठे हो गए; इन (प्रकाशों) का स्रोत उच्च लोक में था;सत्य के मार्ग द्वारा सरमाने गौओं को पा लिया ✱ ॥८॥ " यहाँ हम देखते हैं कि, सरमा की गति द्वारा, जो सरमा सत्य के मार्ग द्वारा सीधी सत्य को पहुँच जाती है, यह हुआ है कि सात ऋषि, जो कि अयास्य और बृहस्पति के सात-सिरोंवाले या सात गौओंवाले विचार के द्योतक हैं, सब छिपे हुए **प्रकाशों** को पा लेते हैं और इन **प्रकाशों** के बल से वे सब इकट्ठे मिल जाते हैं, जैसा कि हमें पहले ही वसिष्ठ कह चुका है कि, वे समविस्तार में, **समाने ऊर्वे** इकट्ठे होते हैं, जहाँ से कि उषा ज्ञान के साथ उतर कर आई है, (**अर्वाङ् जानती गात्**, ऋचा २) या जैसा कि यहाँ इस रूप में प्रकट किया गया है कि इस एक **महती** के

× जीवन की विचार-साधक शक्तियाँ, जैसा कि आगे चलकर प्रगट हो जायगा।

✱ आरे द्वेषांसि सनुतर्दधाम, अयाम प्राञ्चो यजमानमच्छ ॥ ५ ॥

+ एना धियं कृणवाम सखायोऽप या मातॉं ऋणुत व्रजं गोः ॥ ६ ॥

❀ अनूनोदत्र हस्तयतो अद्रिरार्चन् येन दश मासो नवग्वाः।
ऋतं यती सरमा गा अविन्दद् विश्वानि सत्याङ्गिराश्चकार ॥ ५.४५.७ ॥

✱ विश्वे अस्या व्युषि माहिनायाः सं यद् गोभिरङ्गिरसो नवन्त ।
उत्स आसां परमे सधस्थ ऋतस्य पथा सरमा विदद् गाः ॥ ५.४५.८ ॥

उदय में अर्थात् ' असीम चेतना ' में । वहाँ, जैसा कि वसिष्ठ कहता है, वे संयुक्त हुए हुए, ज्ञान में सम्मत हो जाते हैं, (इकट्ठे जानते हैं) और परस्पर प्रयत्न नहीं करते, ' संगतासः संजानत न यतन्ते मिथस्ते, ' अभिप्राय यह है कि, वे सातों एक हो जाते हैं, जैसा कि एक दूसरी ऋचा में सूचित किया गया है; वे सात-मुखोंवाला एक अंगिरस हो जाते हैं- यह ऐसा रूपक है, जो कि सात-सिरोंवाले विचार के रूपक के अनुसारी है— और यही अकेला संयुक्त अंगिरस है जो कि, सरमा की खोजके फलस्वरूप सब वस्तुओं को सत्य कर देता है (ऋचा ७) ।

समस्वर हुआ हुआ संयुक्त, पूर्ण हुआ हुआ द्रष्टा-संकल्प सब मिथ्यात्व और कुटिलता को ठीक कर देता है, और सब विचार, जीवन, क्रिया को सत्य के नियमों में परिणत कर देता है । इस सूक्त में भी सरमा का कार्य ठीक वही है, जो कि अन्तर्ज्ञान (Intuition) का होता है, जो कि सीधा सत्य पर पहुंचता है, सत्य के सरल मार्ग द्वारा न कि संशय और भ्रांति के कुटिल मार्गोंद्वारा और जो अन्धकार तथा मिथ्या प्रतीतियों के आवरण के अन्दर से सत्य को निकाल कर मुक्त कर देता हैं; यह उस (सरमा) से खोजे और पाये गए प्रकाशों द्वारा ही होता है, कि द्रष्टा-मन सत्य के पूर्ण स्वतः प्रकाश-ज्ञान (Revelation) को पाने में समर्थ होता है ।

सूक्त का अवशिष्ट-अंश वर्णन करता है, सात घोडोंवाले सूर्य के अपने उस खेत की और उदय होने का " जो खेत लम्बी यात्रा की समाप्ति पर उस के लिए विशाल होकर फैल जाता है, " वेगवान् पक्षी (श्येन) की सोम-प्राप्ति का और युवा द्रष्टा के द्वारा देदीप्यमान गौओंवाले उस खेत को पा लिये जाने का, सूर्य के " प्रकाशमय समुद्र " पर आरोहण का, " विचारकों द्वारा नीयमान जहाजकी तरह " सूर्य के इस समुद्र को पार कर लेने का और अपनी पुकार के प्रत्युत्तर में उस समुद्र के जलों का मनुष्य में अवतरण होने का । उन जलों में अंगिरस का सप्त-गुणित विचार मनुष्य द्रष्टा द्वारा निहित किया गया है । यदि हम यह याद रखें कि, सूर्य द्योतक है, पराचेतना या सत्यचेतनामय ज्ञान के प्रकाश का और ' प्रकाशमय समुद्र ' द्योतक है माता अदिति के अपने त्रिगुणित सात स्थानों (घरों) के साथ पराचेतन के लोकों का, तो इन प्रतीकात्मक × उक्तियों का अभिप्राय समझ लेना मुश्किल नहीं होगा ।

यह उच्चतम प्राप्ति है, उस परमलक्ष्य की जो कि अंगिरसों की पूर्ण कार्यसिद्धि के बाद, सत्य के लोक पर उनके संयुक्त आरोहण के बाद प्राप्त होती है, ठीक वैसे ही जैसे कि वह कार्यसिद्धि सरमा के द्वारा गौओं का पता पा लिये जाने के बाद प्राप्त होती है ।

एक और सूक्त जो कि इस सम्बन्ध में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, तृतीय मण्डल का ३१ वाँ सूक्त है, जिस का ऋषि विश्वामित्र है । " अग्नि (दिव्य-शक्ति) पैदा हो गया है, जो कि अरुष (आरोचमान, देव, रुद्र) के महान् पुत्रों के प्रति यज्ञ करने के लिए जो हवि दी गई है, उस से उठती हुई अपनी ज्वाला से कम्पायमान हो रहा है, उन का शिशु बडा महान् है जो कि एक व्यापक जन्म है, चमकीले घोडों को हांकनेवाले की (इंद्रकी दिव्य मनकी) यज्ञों के द्वारा बडी महान् गति हो रही है + ॥३॥ विजेत्री (उषाएं) स्पर्धा में उस के साथ संसक्त हो गई, वे ज्ञान द्वारा अन्धकार में से एक महान् प्रकाश को छुडा लाती हैं; जानती हुई उषाएं उस के प्रति उद्गत हो रही हैं, इन्द्र जगमगाती गौओं का एक मात्र स्वामी बन गया है ॐ ॥४॥

× यही आशय है, जिस में कि हम सुगमता से वेद की अन्य अनेक अबतक धुँधली दीखनेवाली उक्तियों को समझ सकते हैं, उदाहरणार्थ ८.६८.९ " हम अपने युद्धों में तेरी सहायता से उस महान् दौलत को जीत लेवें जो कि जलों में और सूर्य में रखी है– अप्सु सूर्ये महद् धनम् " ।

\+ अग्निर्जज्ञे जुह्वा३ रेजमानो महस्पुत्राँ अरुषस्य प्रयक्षे ।
महान् गर्भो मह्या जातमेषां मही प्रवृद्धर्यश्वस्य यज्ञैः ॥ ३.३१.३ ॥

ॐ अभि जैत्रीरसचन्त स्पृधानं महि ज्योतिस्तमसो निरजानन् ।
तं जानतीः प्रत्युदायन्नुषासः पतिर्गवामभवदेक इन्द्रः ॥ ३.३१.४ ॥

उन गौओंको जो कि (पणियों के) दृढ स्थान के अन्दर थीं, विचारक विदीर्ण करके बाहर निकाल लाये; मनके द्वारा सात द्रष्टाओंने आगे की ओर (या ऊपर उच्च लक्ष्य की ओर) उन्हें गति दी, उन्होंने सत्य के संपूर्ण मार्ग (यात्रा के लक्ष्य-क्षेत्र) को पा लिया, उन (सत्यके परम स्थानों) को जानता हुआ इन्द्र नमनं द्वारा उन के अन्दर प्रविष्ट हो गया । "

वीळौ सतीरभि धीरा अतृन्दन् प्राचाहिन्वन् मनसा सप्त विप्राः । विश्वामविन्दन् पथ्या-मृतस्य प्रजानन्नित्ता नमसा विवेश ॥ ५ ॥

(ऋ० ३.३१.५)

यह, जैसा कि सर्वत्र पाते हैं, महान् जन्म, महान् प्रकाश, सत्य ज्ञान की महान् दिव्यगति का वर्णन है, जिसके साथ लक्ष्य-प्राप्ति और देवों तथा द्रष्टाओं (ऋषियों) का ऊपर के उच्च स्तरों में प्रवेश भी वर्णित है । आगे हम इस कार्य में जो सरमा का भाग है, उस का उल्लेख पाते हैं । " जब सरमाने पहाडी के भग्न स्थान को ढूँढ कर पा लिया, तब उस इन्द्रने (या सम्भव है, उस सरमाने) महान् तथा उच्च लक्ष्य को सतत बना दिया । वह सुन्दर पैरोंवाली सरमा उसे (इन्द्र को) अविनाश्य गौओं (उषा की अवध्य गौओं) के आगे ले गई, प्रथम जानती हुई वह, उन गौओं के शब्द की तरफ गई ॐ ॥६॥

यह पुनः अन्तर्ज्ञान (Intuition) है, जो इस प्रकार पथप्रदर्शन करता है; जानती हुई वह तुरन्त और सब के सामने जा पहुँचती है, बन्द पडे हुए प्रकाशों के शब्द की ओर– उस स्थान की ओर जहाँ कि खूब मजबूत बनी हुई और अभेद्य प्रतीत होनेवाली (वीळु, दृढ) पहाडी टूटी हुई है और जहाँ से अन्वेषक उस के अन्दर घुस सकते हैं । सूक्त का शेष भाग अंगिरसों और इन्द्र के इस पराक्रम-कार्य के वर्णन को जारी रखता है । " वह (इन्द्र) जो कि उन सबमें सबसे अधिक महान् द्रष्टा था, उनसे मित्रता करता हुआ गया, गर्भिता पहाडीने अपने गर्भों को पूर्ण कर्मों के कर्ता के लिए बाहर की ओर प्रेरित कर दिया; मनुष्यत्व के बल में, युवा (अंगिरसों) के साथ ऐश्वर्यों की समृद्धि को चाहते हुए उसने (इन्द्रने) उसे अधिगत कर लिया, तब प्रकाश के मन्त्र (अर्क) का गान करता हुआ वह तुरंत अंगिरस हो गया ꩜ ॥७॥ हमारे सामने प्रत्येक सत् वस्तु का रूप और माप होता हुआ, वह सारे जन्मों को जान लेता है, वह शुष्णका बध कर देता है, × " अभिप्राय यह है कि, दिव्यमन (इंद्र) एक ऐसा रूप धारण करता है, जो संसार की प्रत्येक सत् वस्तु के अनुरूप होता है और उस के सच्चे दिव्यरूप को तथा अभिप्राय को प्रकट करता है और उस मिथ्या–शक्ति को नष्ट कर देता है, जो कि ज्ञान तथा क्रिया को विरूप, विकृत करनेवाली है ।

" गौओं का अन्वेष्टा, द्यौ के स्थान (पद) का यात्री मन्त्रों का गान करता हुआ, वह सखा अपने सखाओं को (सच्ची आत्माभिव्यक्ति की) सारी कमियों से मुक्त कर देता है + ॥८॥ उस मन के साथ जिसने कि प्रकाश को (गौओं को) खोजा था, वे प्रकाशक शब्दोंद्वारा अपने स्थानों पर स्थित हो गये, अमरता की ओर मार्ग बनाते हुए (**निगव्यता मनसा सेदुरर्कैः कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम्**) । यह है उन का वह विशाल स्थान, वह सत्य, जिस के द्वारा उन्होंने महीनों को (दशग्वाओं के दशमासों को) अधिगत किया था ॐ ॥९॥ दर्शन (Vision) में समस्वर हुए (या पूर्णतया देखते हुए) वे अपने स्वकीय (घर स्वः) में आनन्दित हुए (वस्तुओं के) पुरातन बीज के दूध को दुहते हुए । उन के (शब्द की) आवाजने सारे द्यावापृथिवी को तपा दिया (अभिप्राय है

ॐ ३.३१.६; विदद्यदी सरमा ...

꩜ अगच्छदु विप्रतमः सखीयन्नसूदयत् सुकृते गर्भमद्रिः ।
ससान मर्यो युवभिर्मखस्यन्नथाभवदङ्गिराः सद्यो अर्चन् ॥ ३.३१.७ ॥

× सतः सतः प्रतिमानं पुरोभूर्विश्वा वेद जनिमा हन्ति शुष्णम् ॥

+ प्र णो दिवः पदवीर्गव्युरर्चन् त्सखा सखीँरमुञ्चन्निरवद्यात् (३.३१.८)

ॐ नि गव्यता मनसा सेदुरर्कैः कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम् ।
इदं चिन्नु सदनं भूर्येषां येन मासाँ असिषासन्नृतेन ॥ ३.३.१९ ॥

तपती हुई निर्मलता को, 'घर्म, तप्तं घृतम्,' रच दिया। जो कि सूर्य की गौओं की देन है); उस में जो कि पैदा हो गया था, उन्होंने उसे रखा जो दृढस्थित था और गौओं में वीरों को (अभिप्राय है कि, युद्ध-शक्ति ज्ञान के प्रकाशके अन्दर रखी) गई × ॥ १० ॥

" वृत्रहा इंद्रने, उन के द्वारा जो कि, पैदा हुए थे, (यज्ञ के पुत्रों के द्वारा), हवियों के द्वारा, प्रकाशके मन्त्रों द्वारा, चमकीली गौओं को ऊपर की ओर मुक्त कर दिया, विस्तीर्ण और आनन्दमयी गौ (अदिति रूपी गौ, बृहत् तथा सुखमय उच्चतर चेतना) ने उस के लिए मधुर अन्न को, घृतमिश्रित मधु को लाते हुए, अपने दूध के रूप में उसे प्रदान किया + ॥११॥ इस पिता के लिए (द्यौ के लिए) भी उन्होंने विस्तीर्ण तथा चमकीले के स्थान को रचा, पूर्ण कर्मों के करनेवाले उन्होंने इस का सम्पूर्ण दर्शन (Vision) पा लिया। अपने अवलम्बन से मातापिताओं (पृथिवी और द्यौ) को खुला सहारा देते हुए वे उच्चलोक में स्थित हो गये और इस के सारे आनन्द से सराबोर हो गये ❀ ॥१२॥

जब (पाप और अनृतको) हटानेके लिये महान् विचार पृथिवी तथा द्यौके अपने विस्तार में एकदम बढते हुए उस को थामता है, धारण करता है- तब इन्द्र के लिये जिस में कि सम तथा निर्दोष वाणियाँ रहती हैं, सब अदम्य शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं ✱ ॥ १३ ॥ उसने महान्, बहुरूप और सुखमय खेतको (गौओं के विशाल खेतको, स्वः को) पा लिया है; और उसने एक साथ सारे गतिमय गोव्रज को अपने सखाओंके लिए प्रेरित कर दिया है। इन्द्रने मानवीय आत्माओं (अंगिरसों) द्वारा देदीप्यमान होकर एक साथ सूर्य को, उषा को, मार्ग को और ज्वाला को पैदा कर दिया है ॥ १५ ॥ *

अवशिष्ट ऋचाओं में यही अलङ्कार जारी है, केवल वर्षा का वह सुप्रसिद्ध रूपक और बीचमें आगया है जो कि इतना अधिक गलत तौरपर समझा जाता रहा है। 'प्राचीन पैदा हुआ हुआ मैं नवीन को रचता हूँ जिस से कि मैं विजयी हो सकूँ। तू अवश्य हमारे अनेक अदिव्य घातकों को हटा दे और स्वः को हमारे अधिगत करने के लिए धारण कर ॥ १९ ॥

पवित्र करनेवाली वर्षाएं हमारे सामने (जलों की शक्ल में) फैल गई हैं; हमें सुख की अवस्थाको तू ले जा जो कि उन का परला किनारा है। हे इन्द्र ! अपने रथ में बैठकर युद्ध करता हुआ तू शत्रु से हमारी रक्षा कर शीघ्रातिशीघ्र हमें गौओं का विजेता बना दे ॥ २० ॥ ✳ वृत्र के वधकर्ता, गौओं के स्वामीने (मनुष्यों को) गौओं का दर्शन करा

× संपश्यमाना अमदन्नभि स्वं पयः प्रत्नस्य रेतसो दुघानाः ।
वि रोदसी अतपद् घोष एषां जाते निःष्ठामदधुर्गोषु वीरान् ॥ ३ ३१.१० ॥

+ स जातेभिर्वृत्रहा सेदु हव्यैरुदुस्रिया असृजदिन्द्रो अर्कैः ।
उरूच्यस्मै घृतवद् भरन्ती मधु स्वाद्म दुदुहे जेन्या गौः ॥ ३.३१.११ ॥

❀ पित्रे चिच्चक्रुः सदनं समस्मै महि त्विषीमत् सुकृतो वि हि ख्यन् ।
विष्कभ्नन्तः स्कम्भनेना जनित्री आसीना ऊर्ध्वं रभसं वि मिन्वन् ॥ ३,३१ १२ ॥

✱ मही यदि धिषणा शिश्नथे धात् सद्योवृधं विभ्वं रोदस्योः ।
गिरो यस्मिन्ननवद्याः समीचीर्विश्वा इन्द्राय तविषीरनुत्ताः ॥ ३.३१.१३. ॥

* महि क्षेत्रं पुरु श्चन्द्रं विविद्वानादित् सखिभ्यश्चरथं समैरत् ।
इन्द्रो नृभिरजनद् दीद्यानः साकं सूर्यमुषसं गातुमग्निम् ॥ ३.३१.१५ ॥

❀ तमङ्गिरस्वन्नमसा सपर्यन् नव्यं कृणोमि सन्यसे पुराजाम् ।
द्रुहो वि याहि बहुला अदेवीः स्वश्च नो मघवन् त्सातये धाः ॥ ३ ३१ १९ ॥

✳ मिहः पावकाः प्रतता अभूवन् त्स्वस्ति नः पिपृहि पारमासाम् ।
इन्द्र त्वं रथिरः पाहि नो रिषो मक्षूमक्षू कृणुहि गोजितो नः ॥ ३.३१.२० ॥

दिया; अपने चमकते हुए नियमों (या दीप्तियों) के साथ वह उनके अन्दर जा घुसा है जो कि काले हैं (प्रकाश से खाली हैं, जैसे कि पणि); सत्यों को (सत्य की गौओं को) दिखाकर सत्य के द्वारा उसने अपने सारे द्वारों को खोल दिया है,' **प्र सूनृता दिशमान ऋतेन दुरश्च विश्वा. अवृणोदप स्वाः** * ॥ २१ ॥ अभिप्राय यह है कि वह अपने निजलोक, स्वः के द्वारों को खोल देता है, उस के बाद जब कि हमारे अन्धकार के अन्दर उस के प्रवेश द्वारा (अन्तः कृष्णान् गात्) ' मानवीय द्वार ' जिन्हें कि पणियोंने बन्द कर रखा था टूटकर खुल पडते हैं।

सो यह है वर्णन इस अद्भुत सूक्त का, जिस के कि अधिकांश का अनुवाद मैंने कर दिया है क्योंकि यह वैदिक कविता के रहस्यवादी तथा पूर्णतया आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार के स्वरूप को चामत्कारिकरूप से खोलकर सामने रख देता है और ऐसा करते हुए यह उस रूपकके स्वरूप को भी स्पष्टतया प्रकट कर देता है जिस के बीच में सरमा का अलंकार आया है। सरमा के विषय में ऋग्वेद में जो अन्य उल्लेख आते हैं वे इस विचार में कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं जोडते। एक संक्षिप्त उल्लेख हम ४.१६.८ में पाते हैं, ' जब तू हे इन्द्र (पुरुहूत) पहाडी का विदारण करके उस के अन्दर से जलों को निकल लाया तब तेरे सामने सरमा आविर्भूत हुई; इसी प्रकार हमारा नेता बनकर अंगिरसों से स्तुति किया जाता हुआ तू बाडों को तोडकर हमारे लिए बहुतसी दौलत को निकाल ला ' × ॥

यह अन्तर्ज्ञान (Intuition) है जो कि **दिव्यमन** के सामने इस के अग्रदूत के रूप में आविर्भूत होता है, जब कि जलों का सत्य की उन प्रवाहरूप गतियों का प्रादुर्भाव होता है जो कि इस पहाडी को तोडकर निकलती हैं। जिस में कि वे वृत्र द्वारा दृढता से बन्द की हुई थीं (ऋचा ७); और यह इस अन्तर्ज्ञान द्वारा ही होता है कि, यह देव (दिव्यमन, इन्द्र) हमारा नेता बनता है इस के लिए कि वह प्रकाश को मुक्त कराये और उस बहुत सी दौलत को अधिगत कराये जो कि पणियों के दुर्गद्वारों के पीछे चट्टान के अन्दर छिपी पडी है।

सरमा का एक और उल्लेख हम पराशर शाक्त्य के एक सूक्त, ऋ० १.७२ में पाते हैं। यह सूक्त उन सूक्तों में से है जो कि वैदिक कल्पना के आशय को अत्यधिक स्पष्टता के साथ प्रकट कर देते हैं, निःसन्देह पराशर के अन्य बहुत से सूक्तों की ही भांति, जो पराशर कि बहुत विशद प्रकाश युक्त और कवि है और जिसे यह सदा प्रिय है कि रहस्यवादी के पर्देके एक कोने को ही नहीं किन्तु कुछ अधिक को हटाकर वर्णन करे। यह सूक्त छोटासा है और मैं इस पूरे का ही अनुवाद करूँगा।

नि काव्या वेधसः शश्वतस्कर्हस्ते दधानो नर्या
पुरूणि। अग्निर्भुवद् रयिपती रयीणां सत्रा
चक्राणो अमृतानि विश्वा॥ (ऋ० १.७२.१)

उस ने, अपने अन्दर, वस्तुओं के शाश्वत **विधाता** के द्रष्टा-ज्ञानों को रचा है, अपने हाथ में अनेक शक्तियों को (दिव्य पुरुषों की शक्तियों को, **नर्या पुरूणि**) धारण करते हुए; अग्नि अपने साथ सारी अमरताओं को रचता हुआ (दिव्य) ऐश्वर्यों का स्वामी हो जाता है ॥ १ ॥

अस्मे वत्सं परिषन्तं न विन्दन्निच्छन्तो
विश्वे अमृता अमूराः। श्रमयुवः पदव्यो धियं
धास्तस्थुः पदे परमे चार्वग्नेः ॥ २ ॥

सब अमर्त्योंने, उन्होंने जो कि (अज्ञान द्वारा) सीमित नहीं हैं, इच्छा करते हुए, उसे हमारे अन्दर पा लिया, मानो कि, (अदिति रूपी गौ का) बछडा हो, जो सर्वत्र विद्यमान है; श्रम करते हुए, स्थान की ओर यात्रा करते हुए, विचार को धारण करते हुए उन्होंने परमस्थान में ' अग्नि ' की जगमगाती हुई (शोभा) को अधिगत कर लिया ॥२॥

तिस्रो यदग्ने शरदस्त्वामिच्छुचिं घृतेन शुचयः
सपर्यान्। नामानि चिद् दधिरे यज्ञियान्य-
सूदयन्त तन्वः सुजाताः ॥३॥

---

* अदेदिष्ट वृत्रहा गोपतिर्गा अन्तः कृष्णाँ अरुषैर्धामभिर्गात्।
प्र सूनृता दिशमान ऋतेन दुरश्च विश्वा अवृणोदप स्वाः ॥ ३.३१.२१ ॥

× अपो यदद्रिं पुरुहूत दर्दराविर्भुवत् सरमा पूर्व्यं ते।
स नो नेता वाजमा दर्षि भूरिं गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणानः ॥ ४.१६.८ ॥

हे अग्ने ! जब तीन वर्षों (तीन प्रतीकरूप ऋतुओं या काल-विभागों जो कि सम्भवतः तीन मानसिक लोकों में से गुजरने के काल के अनुसार हैं) तक उन पवित्रोंने तुझ पवित्र की ' घृत ' से सेवा की, तब उन्होंने यज्ञिय नामों को धारण किया और सुजात रूपों को (उच्च लोक की ओर) गति दी ॥३॥

आ रोदसी बृहती वेविदानाः प्र रुद्रिया जभ्रिरे यज्ञियासः । विदन्मर्तो नेमधिता चिकित्वानग्निं पदे परमे तस्थिवांसम् ॥ ४ ॥

वे महान् द्यावापृथिवी का ज्ञान रखते थे और उन रुद्र के पुत्रों, यज्ञ के अधिपतियोंने उन्हे आगे की ओर धारण किया, मर्त्य दर्शन (Vision) के प्रति जाग गया और उसने अग्नि को पा लिया, जो अग्नि परम स्थान में स्थित था ॥४॥

संजानाना उप सीदन्नभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन् । रिरिक्वांसस्तन्वः कृण्वत स्वाः सखा सख्युर्निमिषि रक्षमाणाः ॥ ५ ॥

पूर्णतया या (समस्वरता के साथ) जानते हुए उन्होंने उस के प्रति घुटने टेक दिये; उन्होंने अपनी पत्नियों (देवो की स्त्रीलिंगी शक्तियों) सहित उस नमस्यको नमस्कार किया, अपने आप को पवित्र करते हुए (या सम्भव है, यह अर्थ हो कि द्यौ और पृथ्वी की सीमाओं को अतिक्रमण करते हुए) उन्होंने अपने निज (अपनी असली या दिव्य) रूपों को रचा, निर्निमेष दृष्टि से रक्षा की, इस प्रकार कि प्रत्येक सखाने सखा की ॥ ५ ॥

त्रिः सप्त यद् गुह्यानि त्वे इत्पदाविदन्निहिता यज्ञियासः । तेभी रक्षन्ते अमृतं सजोषाः पशूञ्च स्थातॄञ्चरथं च पाहि ॥ ६ ॥

तेरे अन्दर यज्ञ के देवोंने अन्दर छिपे हुए त्रिगुणित सात गुह्य स्थानो को पा लिया; वे एक हृदयवाले होकर, उन के द्वारा अमरता की रक्षा करते हैं । रक्षा कर तू उन पशुओं की जो स्थित हैं और उस की जो कि गतिमय है ॥६॥

विद्वाँ अग्ने वयुनानि क्षितीनां व्यानुषक्छुरुधो जीवसे धाः । अन्तर्विद्वाँ अध्वनो देवयानानतन्द्रो दूतो अभवो हविर्वाट् ॥ ७ ॥

७

हे अग्ने ! लोकों में सब अभिव्यक्तियों (या जन्मों) के ज्ञान को रखता हुआ, (अथवा मनुष्यों के सारे ज्ञान को जानता हुआ) तू अपनी शक्तियों को सतत रूप से जीवन के लिए धारण कर । अन्दर, देवों की यात्रा के मार्गों को जानता हुआ, तू उन का अतन्द्र दूत और हवियों का वाहक हो जाता है ॥७॥

स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन् । विदद् गव्यं सरमा दृळहमूर्वं येना नु कं मानुषी भोजते विट् ॥ ८ ॥

विचार को यथार्थ रूप से धारण करती हुई, सत्य को जानती हुई द्युलोक की सात शक्तिशाली (नदियों) ने आनन्द (सम्पत्) के द्वारों को जान लिया; सरमाने गौओं की दृढता को, विस्तीर्णता को पा लिया, जिस के द्वारा अब मानुषी प्रजा (उच्च ऐश्वर्यों का) आनन्द लेती है ॥८॥

आ ये विश्वा स्वपत्यानि तस्थुः कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम् । मह्ना महद्भिः पृथिवी वि तस्थे माता पुत्रैरदितिर्धायसे वेः ॥ ९ ॥

उन्होंने जो कि उन सब वस्तुओं पर आस्थित हुए थे, जो कि यथार्थ फल (अपत्य) वाली हैं, अमरता की ओर मार्ग बनाया; महानो के द्वारा और महत्ता के द्वारा पृथिवी विशाल रूप मे स्थित हुई; माता अदिति अपने पुत्रों के साथ, धारण करने के लिए आई ॥९॥

अधि श्रियं नि दधुश्चारुमस्मिन् दिवो यदक्षी अमृता अकृण्वन् । अध क्षरन्ति सिन्धवो न सृष्टाः प्र नीचीरग्ने अरुषीरजानन् ॥ १० ॥

अमर्त्योंने उस के अन्दर चमकती हुई शोभा को निहित किया, जब कि उन्होंने द्यौ की दो आँखों को (जो कि सम्भवतः सूर्य की दो दर्शन-शक्तियों, इंद्र के दो घोडों के तद्रूप हैं,) बनाया; नदियाँ, मानो वे मुक्त हुई हुई हों, नीचे को प्रवाहित हुई; आरोचमान (गौओं) ने जो यहाँ नीचे थीं, जान लिया हे अग्ने ! ॥१०॥

यह है पराशर का सूक्त जिस का कि मैंने यथासम्भव अधिक से अधिक शब्दशः अनुवाद किया है, यहाँ तक कि इस के लिए भाषा में कुछ थोडे से असौष्ठव को भी सहन करना पडा है। प्रथम दृष्टि में ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सारे के सारे सूक्त में ज्ञान का, सत्य

का, दिव्य ज्वाला का प्रतिपादन है, जो (ज्वाला) मुश्किल से ही सर्वोच्च देव से भिन्न हो सकती है, इस में अमरता का, और इस बात का प्रतिपादन है कि देव (अर्थात् दिव्य शक्तियों) यज्ञ द्वारा आरोहण करके अपने देवत्व को, अपने परमनामों को, अपने वास्तविक रूपों को, दिव्यता के अपने त्रिगुणित सात स्थानों सहित परमावस्था की जो जगमगाती हुई शोभा है उसको, पहुँच जाते हैं। इस प्रकार के आरोहण का सिवाय इस के कोई दूसरा अर्थ नहीं हो सकता कि यह मनुष्य के अन्दर की दिव्य शक्तियों का, जगत् में उन के जो सामान्यतया रूप दिखाई देते हैं, उन से उठकर, परे जगमगाते हुए सत्य की तरफ आरोहण है, जैसा कि सचमुच पराशर स्वयं ही हमें कहता है कि देवों की इस क्रिया द्वारा मर्त्य मनुष्य ज्ञान के प्रति जागृत हो जाता है और परम पद में स्थित अग्नि को पा लेता है;

विदन् मर्तो नेमधिता चिकित्वान्
अग्निं पदे परमे तस्थिवांसम्।

इस प्रकार के सूक्त में सरमा का और क्या मतलब है, यदि वह सत्य की कोई शक्ति नहीं है, यदि उस की गौएं प्रकाश की दिव्य उषा की किरणें नहीं हैं? प्राचीन लडाकू जातियों की गायों का तथा हमारे आर्य और द्रवीडी पूर्वजों के अपनी पारस्परिक लूटों और पशुहरणों पर किये जाने-वाले रक्तपातमय कलहों का अमरता तथा देवत्व के इस जगमगाते हुए स्वतःप्रकाश ज्ञान से क्या ताल्लुक हो सकता है? अथवा ये नदियां क्या होंगी जो विचार करती हैं और सत्य को जानती हैं और छिपे हुए द्वारों का पता लगा लेती हैं? या क्या अब भी हम यही कहेंगे कि ये पंजाब की नदियां थीं, जिन्हें द्रवीडियोंने बाँध लगाकर रोक दिया था, या जो अनावृष्टि के कारण रुक गई थीं और सरमा आर्यों के दूत-कर्म के लिए एक गाथा की यात्री थी, या केवल भौतिक उषा थी?

दशम मण्डल में एक सूक्त पूरा का पूरा सरमा के इस "दूत-कर्म" का वर्णन करता है, यह सरमा और पणियों का संवाद है; परन्तु सरमा के विषय में जितना हम पहले से जानते हैं, उस में यह कुछ और विशेष नई बात नहीं जोडता और इस सूक्त का महत्त्व इस में है कि वह गुफा के खजाने के जो स्वामी हैं, उन के बारे में विचार बनाने में हमें सहायता देता है। तो भी, हम यह देख सकते हैं कि न तो इस सूक्त में, न ही दूसरे सूक्तोंमें जिन्हें कि हम देख चुके हैं, सरमा के देवशुनी (द्युलोक की कुतिया) रूप से चित्रणका जरा भी निर्देश हमें मिलता है, जो कि सम्भव है वैदिक कल्पनाके बादमें होनेवाले विकासमें सरमाके साथ सम्बद्ध हो गया होगा। यह निश्चित ही चमकीली सुन्दर-पैरों-वाली देवी है, जिस की ओर पणि आकृष्ट हुए हैं और जिसे वे अपनी बहिन बना लेने चाहते हैं– इस रूप में नहीं कि वह एक कुतिया है, जो अनेक पशुओं की रखवाली करेगी, बल्कि एक ऐसी देवी के रूप में जो उन के ऐश्वर्यों के प्राप्ति में हिस्सा लेगी। तो भी इस का द्युलोक की कुतिया के रूपक द्वारा वर्णन अत्यधिक उपयुक्त और चित्ताकर्षक है और कथानक मे से उस का विकसित हो जाना अनिवार्य था।

प्राचीनतर सूक्तों मे से एक में सचमुच हम एक पुत्र का उल्लेख पाते है, जिस के लिए सरमाने "भोजन प्राप्त कर लिया था,"– यह अर्थ उस एक प्राचीन व्याख्या के अनुसार है, जो इस शब्दावली की व्याख्या के लिए एक कहानी प्रस्तुत करती है कि सरमाने कहा था कि मैं खोई हुई गौओं को तो ढूंढ लूँगी पर शर्त यह है कि यज्ञ में मेरी सन्तान को भोजन मिलना चाहिए। पर यह स्पष्ट ही कल्पना मात्र है, जो कि इस व्याख्या को प्रमाणित करने के लिए गढ ली गई है और जिस का स्वयं ऋग्वेद में किसी स्थान पर उल्लेख नहीं आता। जिस में उपर्युक्त शब्दावली आई है, वह ऋचा इस प्रकार है—

इन्द्रस्याङ्गिरसां चेष्टौ
विदत् सरमा तनयाय धासिम्। (ऋ. १-६२-३)

इस में वेद कहता है यज्ञ में या अधिक सम्भवतः इसका यह अर्थ है कि इंद्र और अंगिरसों की (गौओं के लिए की जानेवाली) खोज में "सरमाने पुत्र के लिए एक आधार को ढूंढ लिया," (विदद् सरमा तनयाय धासिम्), क्योंकि यहाँ 'धासिम्' शब्द का आशय अधिक सम्भवतः ऐसा ही प्रतीत होता है। यह पुत्र, पूरी सम्भावना है कि वह पुत्र है, जो यज्ञ से पैदा हुआ है, जो कि वैदिक कल्पना का एक स्थिर तत्त्व है, न कि यह कि पुत्र से अभिप्राय यहाँ सरमा से पैदा हुई कुत्तों की सन्तति हो। वेद में इस जैसे वाक्यांश और भी आते हैं, जैसे ऋ. १.९६.४ में 'स मात-

रिश्वा पुरुवारपुष्टिर्विदद् गातुं तनयाय स्वर्वित्। ' मातारिश्वा (प्राण के देवता, वायु) ने बहुत से वरणीय पदार्थों को (जीवन के उच्चतर विषयों को) बढाते हुए, पुत्र के लिए मार्ग को ढूंढ लिया, स्वः को ढूंढ लिया ।" यहाँ विषय स्पष्ट ही वही है, पर पुत्र का किसी पिछ्लों की सन्तति से कुछ सम्बन्ध नहीं है ।

दशम मण्डल में एक बाद के सूक्त में यम के दूतों के रूप में दो सारमेय कुत्तों का उल्लेख आता है, पर उन की माता के रूप में सरमा का वहाँ कोई संकेत नहीं है। यह आता है प्रसिद्ध ' अन्त्येष्टिसूक्त ' (१०.१४) में और यहाँपर ध्यान देने योग्य है कि ' यम ' का तथा उस के दो कुत्तों का ऋग्वेद में वास्तविक स्वरूप क्या है ? बाद के विचारों में यम 'मृत्यु' का देवता है और उस का एक अपना विशेष लोक है; पर ऋग्वेद में प्रारम्भ में यह सूर्य का एक रूप रहा प्रतीत होता है, यहाँ तक कि इतनी पीछे जाकर भी जब कि ईशोपनिषद् की रचना हुई, इस नाम को हम सूर्य–वाची नाम के रूपमें प्रयुक्त किया गया पाते हैं,– और फिर सत्य के अतिरोचमान देव के युगल शिशुओं (यम–यमी) में से एक। वह धर्म का संरक्षक है, उस सत्य के नियम, सत्यधर्म का जो कि अमरता की शर्त है और इस लिये वह स्वयं अमरताका ही संरक्षक है। उसका लोक है स्वः जो अमरता का लोक है, 'अमृते लोके अक्षिते, ' जहाँ, जैसा कि हमें ९.११३ में कहा गया है, अजस्र ज्योति है जहाँ स्वः स्थित है, ' यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम् ।

सू. १०.१४ वास्तव में उतना मृत्यु का सूक्त नहीं है जितना कि जीवन और अमरता का सूक्त है। यमने और पूर्व पितरोंने मार्ग को ढूंढ लिया है जो मार्ग उस लोक को जाता है जो लोक गौओं का चरागाह है, जहाँ से कि शत्रु उन चमकती हुई गौओं को हरण नहीं कर सकता—

' यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ, यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः ॥ (१०.१४.२)

द्यौ के प्रति आरोहण करते हुए मर्त्य के आत्मा को आदेश दिया गया है कि ' चार आँखोंवाले, चितकबरे दो सारमेय कुत्तों को उत्तम (या, कार्यसाधक) मार्ग पर दौड कर अतिक्रमण कर जा * '। द्यौ को जानेवाले उस मार्ग के वे चार आँखोंवाले संरक्षक हैं, वे अपने दिव्य दर्शन द्वारा उस मार्ग पर मनुष्यों की रक्षा करते हैं,

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ । (१०.१४.११)

और यम को कहा गया है कि वह इन्हें अपने मार्ग पर जाते हुए आत्मा के लिए रक्षक के तौरपर देवे। ये कुत्ते हैं "विशाल गतिवाले, आसानी से तृप्त न होनेवाले " और नियम के देवता (यम) के दूतों के तौरपर ये मनुष्यों के अन्दर विचरते × हैं। और सूक्त में प्रार्थना है कि ' वे (कुत्ते) हमें यहाँ असुखमय (लोक) में फिर से सुख प्राप्त करा देवे जिस से कि हम सूर्य को देख सकें + ।

यहाँ फिर हम प्राचीन वैदिक विचारों के क्रम को पाते हैं, प्रकाश और सुख और अमरता; और ये सारमेय कुत्ते सरमा के प्रधानभूत गुणोंको रखते हैं, अर्थात् दिव्य दर्शन, विशाल रूप से विचरण करनेवाली गति जिस मार्ग द्वारा लक्ष्य पर पहुँचा जाता है, उस मार्ग पर यात्रा करने की शक्ति। सरमा गौओं के विस्तार की तरफ ले जाती है, ये कुत्ते आत्मा की रक्षा करते हैं, जब कि वह चमकीली और अनश्वर गौओं के दुर्जेय चरागाह, खेत (क्षेत्र) की यात्रा कर रहा होता है ।

सरमा हमें सत्य को प्राप्त कराती है, सूर्य के दर्शन को प्राप्त कराती है, जो कि सुख को पाने का मार्ग है, ये कुत्ते दुःख–पीडा के इस लोक में पडे हुए मनुष्य के लिए चैन लाते हैं ताकि वह सूर्य के दर्शन को पा ले। चाहे सरमा इस रूप में चित्रित की जाये कि वह सुन्दर पैरोंवाली देवी है, जो मार्ग पर तेजी से जाती है और सफलता प्राप्त करती है, चाहे इस रूप में कि वह देवशुनी है, जो मार्ग के इन विशाल गतिवाले संरक्षकों (सारमेयों) की माता है, विचार एक ही है कि वह सत्य की एक शक्ति है, जो खोजती है और पता पा लेती है, जो अन्तर्दृष्टि की एक दिव्य शक्ति द्वारा छिपे हुए प्रकाश को और अप्राप्य अमरता का पता लगा देती है। पर यह खोजना और पता पा लेना ही है, जिस तक कि उस का व्यापार सीमित है।

* अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा। (१.१४.१०)

× उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु। (१०.१४.१२) (क)

+ तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥ १२ ॥ (१०.१४.१२) (ख)

अहिंसा ।

(लेखक- श्री० वसिष्ठजी)

सैकडों मत-मतान्तरों से भरी हुई मानव-जाति की सभ्य समाज में अहिंसा आज राजनैतिक क्षेत्र में उतर आई है। इसको राजनैतिक क्षेत्र में लानेका श्रेय महात्मा गांधी को है। अतीत काल से आजपर्यन्त इतिहासज्ञोंकी दृष्टि में इसकी मान्यता आध्यात्मिक क्षेत्र में मुख्य रूप से और व्यावहारिक जगत् में गौण रूप से की गई है। किन्तु राजनीतिज्ञों में इसका समावेश प्रत्यक्ष रूप से नहीं मिलता। जैन मत को छोड कर किसी भी मत में अहिंसा की सर्वांग प्रतिष्ठा नहीं मिलती। कितने मतोंमें तो इसका पदार्पण नाम मात्र को ही है। एक अदृश्य, आकाशीय शक्ति से प्रचारित कहे जाने के कारण मत-मतान्तरों ने अहिंसा को तर्क की तुला पर आरूढ करके इसकी मान्यता पर माथापच्ची नहीं की है। इसीलिये यह जिस मत में जितने अंश में विद्यमान मिली, उतनेही अंश में रही और आलोचनीय नहीं बनाई गई। किन्तु राजनीति अन्तर्राष्ट्रीयता तक से नत्थी होने के कारण तर्क के क्षेत्र में ही फल फूल सकती है। इसलिये आज राजनैतिक क्षेत्रमें उतर आने पर अहिंसा बृहद्रूप से आलोचनीय बन गई है।

अहिंसा संज्ञा का अर्थ इसकी व्यावहारिक आलोचना से कोई खास सम्बन्ध नहीं रखता, इसकी व्यावहारिक परिभाषा ही इसको तर्क-तुला पर ले जा सकती है। वही हमें भी अभीष्ट है।

किसीको दुःख न देना अहिंसा कहलाती है, किन्तु दुःख तो डाक्टर के ओपरेशन व कडवी औषध-प्रयोग में भी होता है। कुपथ्य से रोकने में भी दुःख होता है; कुकर्मसे रोके जाने पर कुपथगामी दुःख मानता है। तो क्या कडवी औषध का प्रयोग करनेवाले वैद्य व ओपरेशन करनेवाले डाक्टर हिंसक हैं? क्या रोगीके उपचारक तथा बालकों को कुकर्म से रोकनेवाले माता पिता आदि हिंसक हैं?

हम देखते हैं कि चोर सोने के आभूषण के लोभ में एक स्त्री का हाथ छुरेसे काट लेता है। उधर डाक्टर दूसरी स्त्री का हाथ इसलिये काटता है कि उसके हाथ के व्रण में विष संचार हो जाने के कारण मृत्यु का भय था। दोनों स्त्रियों को हाथ कटने की वेदना हुई और दोनों को सदा के लिये हाथ से हाथ धोना पडा, किन्तु हाथ काटनेवाले डाक्टर और चोर में एक निरपराध है, तो दूसरा अपराधी! एक पुरस्कार व प्रतिष्ठा पाता है, दूसरा दण्ड। एक प्राणरक्षक है, दूसरा हत्यारा। एक ही कार्य और एक जैसे परिणाम के होते हुए भी डाक्टर व चोर की भावनाओं में अन्तर है। एक प्राणदान करती है, दूसरी हत्या व्यापार। डाक्टर का उद्देश्य कल्याणकारी है, चोर का सांघातिक। इसलिये दूसरे को हिंसा अपराध कहा जाता है।

इस मीमांसा से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि दुःख पहुँचाने का नाम हिंसा भावना नहीं है। हिंसा भावना है किसी का अहित-चिंतन में। वह कार्य जिस से किसी का अहित हो हिंसा है। हम देखते हैं कि डाक्टर के ओपरेशन से स्त्री का हाथ नष्ट होने पर उस का अहित ही हुआ है। हाथ के बिना उसको कष्ट होता है। यह ठीक है, किन्तु हाथ न काटने से उस से भी बडा अहित मृत्यु के रूप में उपस्थित हो जाता। बडे नुकसान से बचाने के लिये छोटे नुकसान की जोखिम अच्छी ही है। लेकिन छोटे नुकसान की जोखिम भी है एक जोखिम ही। यदि कोई चिकित्सक बिना हाथ काटे उस बडे अहित से बचा सके, तो हमें यही कहना होगा कि डाक्टर का कार्य न्यून अनुभवी अथवा त्रुटियुक्त था, किन्तु हम डाक्टर के कार्य को चोर के कार्य के समान अहित कर्म की हिंसा नहीं मानते, क्योंकि डाक्टर के कार्य में हितभावना है, जब तक यह निश्चय न हो जावे कि डाक्टर बिना ओपरेशन किये भी स्त्री के हाथ को बिना काटे रोगमुक्त करके उसकी प्राण रक्षा कर सकता था और उसने स्त्री को किसी वैरभाव के कारण ही अंगहीन बनाया।

सांख्यों के मत से तो दुःखका कारण अज्ञान है और यह विचार है भी ठीक। वास्तविक ज्ञान के अभाव के कारण

ही दुःख होते हैं। जो मनुष्य आत्मा और शरीर के पृथक्त्व का साक्षात्कार कर लेता है, उस का शरीर के अंग-नाश तक का दुःख नहीं होता। ऐसी अवस्था में हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि किसी योगी की हत्या में योगी को तनिक भी कष्ट नहीं होता। योगी ही नहीं अनेकों धीर साहसी आत्माओंने हंसते हंसते प्राण दिये, तनिक भी दुःख नहीं माना किन्तु उन के हत्याकारी हिंसक कहलाए।

वास्तवमें किसीको दुःख देनेका नाम हिंसा भावना नहीं है। दुःख तो कुकर्मों या भ्रांत भावनाओं का संचित फल है, जो मनस्तत्त्व में अज्ञान के कारण मिथ्यानुभव से प्रतीत होता है। मानसिक हिंसा का भाव तो हिंसक की अहित भावना में है, हिंसा कर्म तो उस का प्रत्यक्ष परिणाम है। परोक्ष परिणाम तो हिंसक को उसी क्षण प्राप्त हो चुका, जब उसने अहित भावना की थी। हिंसा भावना का सम्बन्ध हिंसा भावनावाले की आत्मा से है, हिंसित प्राणी से नहीं। यदि हिंसित प्राणी से हिंसा का सम्बन्ध होता, तो किसी योगी, समदर्शी पुरुष की हत्या का बुरा न माना जाता, क्योंकि ऐसी महान् आत्माओं को हत्या द्वारा वा प्राकृत मृत्यु से कोई दुःख नहीं होता। किसी स्वार्थ या मन के आवेश के वशीभूत होकर जब कोई प्राणी किसी के प्रति अहितभावना करता है, तभी मानसिक हिंसा होती है और उस अहितभावना का प्रत्यक्ष परिणाम हिंसा-कर्म होता है।

अहितभावना की कोई खास परिभाषा नहीं है। यह अहित-कामना करनेवाले पर निर्भर है। अहित-कामना करनेवाला अपने शत्रु को दुःखी देखना चाहता है। एक मनुष्य अपने शराबी शत्रु की शराब की बोतलें इसलिये चुरा लेता है कि उन बोतलों के अभाव में शराब न मिलने के कारण उस का शराबी शत्रु दुःखी होगा, किन्तु परिणाम यह होता है कि शराब न मिलनेके कारण शराबी शत्रु उस कुकर्म व हानि के कष्ट से बच जाता है, जो उसे शराब के नशे में भोगना पड़ता। शराबी को लाभ हुआ अपने प्रतिद्वन्द्वी के द्वेषजनित चोरी कर्म से, किन्तु उस की अहित भावना ने उस से चोरी कराकर शराबी को दुःख देने की इच्छा का हिंसा कर्म करा डाला। अतः मानसिक हिंसा भावना का सम्बन्ध मुख्य रूप से हिंसा भावनावाली आत्मा से है, हिंसित से नहीं। हिंसित को लाभ हुआ, किन्तु हिंसक की आत्मा को हिंसा की कालिमा लग चुकी। हिंसित की मृत्यु हुई, किन्तु उस की (हिंसित की) आत्मा को तनिक भी कालिमा नहीं लगी। यदि उस की आत्मा में हिंसक के प्रति प्रत्यक्ष या परोक्ष भाव से प्रतिहिंसाभाव का सृजन नहीं हुआ। ऐसी घटनाएं महान् पुरुषों के अपवाद उदाहरणमें ही नहीं, बल्कि जन-साधारण की हत्याओं में भी मिलती हैं, जब कि हिंसित व्यक्ति को इतना भी पता नहीं होता कि उस की मृत्यु किसी के हिंसा व्यापार से हो रही है। ऐसी अवस्था में हिंसित व्यक्ति की आत्मा को प्रतिहिंसा की कालिमा नहीं लगती।

हम हिंसा की सूक्ष्मतम गहराई में उतर जाना चाहते हैं, क्योंकि इस के बिना हम हिंसा की ठीक मीमांसा कर भी नहीं सकते। हमें देखना यह है कि अहितभावना का उद्गम क्या है। हमेशा अहितभावना अमैत्री से होती है और अमैत्रीका उद्गम है द्वेष और वैर। द्वेष और वैरका उद्गम है क्रोध। द्वेष क्रोधका मृदु रूप है और वैर उग्र रूप। क्रोध की अत्यन्त उग्रता वैर की पराकाष्ठा है। इसी के अनुरूप अहितभावना होती है। जितना उग्र क्रोध होगा, इतनी अधिक भावना होगी। क्रोध उन्मत्त अहित भावना को कर्म-क्षेत्र में लाकर मारपीट व हत्या तक के प्रत्यक्ष व्यापार कर डालती है। अतः हिंसा का आदि उद्गम क्रोध है। क्रोध क्रोधी का ही सब से बड़ा शत्रु है। यह उत्पन्न होते ही सब से संघातिक चोट क्रोधी पर ही करता है। इसलिये क्रोध अत्यन्त तमोगुणी, बुद्धि को लुप्त करनेवाला, विवेक शून्य उन्मत्त आवेश है।

पुलिस के कर्मचारियोंने एक खूनी को न्याय के सामने पेश किया है। जज व जूरियोंने गवाहोंके बयानों पर खूनी को अपराधी माना है। जजने बयानों की व्याख्या करते हुए अपराधी को प्राण दण्ड की आज्ञा दे दी है। जेल के कर्मचारियोंने नियत तारीख को अपराधी के गले में फांसी का फंदा डालकर उस की जीवन लीला को समाप्त कर दिया। हम देखते हैं कि एक जीवन को समाप्त करने के लिये लगभग २० मनुष्योंने कार्यवाही की है। दूसरी ओर एक स्त्री की हत्या होने के कारण उस स्त्री के परिवारवालों

ने क्रोधोन्मत्त होकर हत्या करनेवाले को जीवित जला डाला। उस परिवार के उन मनुष्यों की संख्या १० है, जिन्होंने क्रोधोन्मत्त होकर अपराध करनेवाले की जीवन-लीला समाप्त की है। ये १० मनुष्य किसी देशविशेष की न्यायदृष्टि में ही नहीं, अपितु प्राकृत नियम की दृष्टि में भी अपराधी हैं। इन्होंने क्रोधोन्मत्त होकर अत्यन्त असह्य वेदना तब अनुभव की थी, जब वे क्रोधोन्मत्त हुए थे, दूसरी असह्य वेदना का बीज इन्होंने तब बो दिया, जब इन के द्वारा जलाया जानेवाला अपराधी प्रतिहिंसा के क्रोध से उन्मत्त हो गया था और इस प्रतिहिंसा को वह अनन्त भविष्यमें साथ ले गया है, जो हिंसाका तब तक क्रम जारी रक्खेगी, जब तक क्रोध का उन्मूलन न हो जायगा। उस मनुष्यने हिंसा की पहली सृष्टि तब की जब वह स्त्रीकी हत्या के लिये क्रोधोन्मत्त हुआ। दूसरी सृष्टि स्त्री की हत्या करने की हुई, जिस की वेदना उसे अग्नि में जीवित जल कर भोगनी पडी। तीसरी सृष्टि तब हुई, जब मरकर प्रतिहिंसा को जन्मान्तर में ले गया।

दो जीवन-लीलाएं समाप्त हुईं, एक फांसी के फंदे में, दूसरी अग्नि-दाह में। पहली में जज, जूरी व पुलिस के कर्म-चारियों से लेकर फांसी का फंदा लगानेवाले तक किसी में क्रोध का लेश भी नहीं है। सब शांत भाव से कर्तव्य का अभिनय कर रहे हैं। फांसी के दण्ड-विधान को बुरा कहनेवाले फांसी को त्रुटिपूर्ण, दोषयुक्त तो कह सकते हैं, किन्तु वे फांसी देनेवाले को अपराधी, हत्यारा नहीं बता सकते, यदि उन्होंने खूनी को ही फांसी दी है। वे कह सकते हैं कि फांसी देने के बजाय कोई ऐसा आविष्कृत विधान उपयोगमें लाया जा सकता था, जिससे खूनी का ममत्व क्रोध और वैर से मुक्त होकर मानव-समाज के लिये कल्याणकारी जीवन का सारथी बन जाता, किन्तु वे व्यवस्थापकों को अपराधी नहीं मानते। हम व्यवस्थापक विधान में भी देखते हैं कि किसी न्यायाधीश द्वारा क्रोध के आवेश में अपराधी को दिया गया न्याययुक्त दण्ड भी वैधानिक औचित्य की सीमा से बाहर माना जाता है। इसी कारण जज का कर्तव्य ही यह ठहराया गया है कि वह पूर्ण शांतचित्त होकर न्याय करे। क्रोधादि के आवेश में वह सत्यासत्य का निर्णय कर ही नहीं सकता।

इस विशद मीमांसा से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि क्रोधजनित वैर और द्वेष से जो भावना होती है, वह खरा अहित चिन्तन है और यही मानसिक हिंसा है, चाहे वह चेतन प्राणी के प्रति हो वा जड वस्तु के।

प्राणियों पर ही नहीं, क्रोध जड वस्तुओं पर भी किया जाता है। जब हम किसी काम को ठीक ठीक नहीं कर सकते, अँधेरे में ठोकर खा जाते हैं; कोई वस्तु हमारी मनोनीत स्थिति में नहीं ठहरती, बार बार संभाल कर रखने पर भी गिर जाती है, तब हम उस जड वस्तु पर क्रुद्ध हो जाते हैं। उसे फेंक देते हैं, अपनी दूसरी चीजों को भी तोड डालते हैं। यह क्रोधजनित अहितभावना उन जड वस्तुओं के प्रति वैर है। इस क्रोधोन्माद में हम अपनी ही जड वस्तुओं को नष्ट करने लग जाते हैं और यह भूल जाते हैं कि ये जड वस्तुएं किसी प्रकार का दुःख अनुभव नहीं करतीं।

हमने क्रोध, अहित-भावना, मानसिक हिंसा के वशीभूत होकर जड वस्तु को तोड डाला, जिसको कोई कष्ट नहीं हुआ। क्रोधोन्मत्त होकर चाणक्य ने दाभ की जडों को मट्ठा देकर नष्ट कर डाला। अँधेरे में ठोकर लग जानेसे हमने अपने बर्तन को उठाकर फेंक दिया। यह सब जड वस्तुओं पर हिंसा व्यापार हुआ। उनको कोई कष्ट नहीं हुआ, किन्तु हमने क्रोध के वशीभूत होकर अहित-भावना की मानसिक हिंसा के साथ ही वस्तुओं को फेंक कर या तोडकर कर्म की हिंसा भी कर ली। बालक विनोदमें छोटे छोटे कीडों की हत्या कर डालता है, किन्तु उसके मन में क्रोधजनित वैरका हिंसा भाव नहीं होता, किन्तु पुस्तक से ठोकर खाने पर क्रुद्ध हुआ शिशु क्रोधजनित हिंसा से प्रेरित होकर जड पुस्तक को खूब पीटता है। अतः क्रोध, वैर, अहित भावना से हिंसा करनेवाले क्रोधी की आत्मा ही मलिन, पतित, क्षुब्ध व अशान्त होकर वेदनाग्रस्त होती है। जिन पुरुषों को इस मानसिक व आत्मिक पीडा से बचना अभीष्ट है उनको मानसिक हिंसा से बचने का प्रयत्न करना जरूरी है। यह सम्भव हो सकता है वैर और क्रोध का उन्मूलन करने से। वैर और क्रोध का उन्मूलन मानसिक अहिंसा है। क्रोध, वैर, द्वेषजनित अहित चिन्तन की मानसिक हिंसा से हिंसा के लक्ष्य प्राणी का तब तक

कोई अहित नहीं होता जब तक मानसिक हिंसक उसे कर्म में परिणत न कर दे, चाहे वह कर्म वाणी या लेखनीका ही क्यों न हो ।

हम देखते हैं कि (क) चोर ने सोने के कड़े के लोभमें स्त्री का हाथ काटा । (ख) एक मनुष्य ने धन के लोभ से एक दूसरे मनुष्य की हत्या करवा डाली । (ग) एक धन-लोलुपने अपने धनवान् सम्बन्धी को किसी डाक्टर द्वारा विष-प्रयोग से मरवा डाला । उपर्युक्त घटनाओं में हत्या करनेवाले या करानेवाले व्यक्तियों के हृदय में हिंसित प्राणियों के प्रति क्रोध नहीं है । उनके हृदयों में लोभ है और उसकी उत्कटता इतनी बढ़ गई है कि वे हत्या तकके लिए उद्यत हो गये हैं । डाक्टर, उपचारक, नौकर आदि सब उस धनके लोभमें ग्रस्त हैं । वे सब छिप कर हत्याव्यापार कर रहे हैं । किसी के हृदय में क्रोध का लेश भी नहीं है ।

क्रोध, उत्पन्न होते ही क्रोधीके हृदय में एक असह्य वेदना युक्त तूफान उत्पन्न कर देता है और फिर हत्या तक कर डालता है । अप्रकट या अल्पक्रोधमें भी दुश्चिन्तनकी अहित-भावना की जाती है । कायर, भीरु तथा बलहीन क्रुद्ध होकर मनही मन दूसरे का अहित चिन्तन किया करते हैं । हम क्रोधमें अपने प्रियतमों हकका अहित चिन्तन करते हैं, तथा क्रोध उतरते ही अहितचिन्तन समाप्त हो जाता है ।

लोभ ने स्वार्थमय चिन्तन को उत्पन्न किया । उस चिन्तन में स्तेय की युक्ति ठीक प्रतीत हुई । स्तेय (चोरी) की आवश्यकता तब पड़ती है, जब हम अपने ध्येयको प्राप्त नहीं कर सकते । या तो हम प्रकट रूप से भय समझते हैं, या बाधाएं जिन का कारण अपनी भीरुता व न्यून शक्ति होती है । चौर्यमार्ग इन्हीं कारणों के वशीभूत होकर अपनाया जाता है ।

धनलोभीने धनवान् से धन मांगा । धनवानने धन नहीं दिया । लोभीने शांत भाव से धनवान् को गोली से मार डाला । इस में अहित भावना की हिंसा नहीं हुई । यदि चोरने भी मन से शांत रहकर स्त्री का हाथ काटा है, तो वह भी क्रोध, वैर की अहित भावना से मुक्त है । डाक्टर, उपचारक, नौकर, रिश्तेदार अहित भावना से मुक्त हैं । क्योंकि उन के हृदय में क्रोध का अभाव है । यदि धन न मिलने पर क्रुद्ध होकर चोर धनवान् की हत्या करता है, तो वह भी वैर क्रोध के कारण अहितचिन्तक हो जाता है ।

क्रोधने पर अहित-भावना को उत्पन्न किया, लोभने निजहित-भावना को । निजहित-भावना की पूर्तिके लिए पर हानि की आवश्यकता हुई, तो वह स्वार्थ कहलाया । पर हानि होने से लोभ व स्वार्थ हेय माने गये । लोभ-स्वार्थ में बाधा पड़ी, तो सशक्तने बल-प्रयोग का और निर्बलने छल का आश्रय लिया ।

क्रोधी के मन में पर अहित चिन्तन की भावना आरम्भ में ही उत्पन्न हो गई, किन्तु लोभी के मन में यह भावना उत्पन्न ही नहीं हुई । यदि लोभी क्रोधमुक्त रहकर बल-प्रयोग से अथवा छिपकर धन हरण कर ले, तो वह क्रोध-जनित अहित भानना से मुक्त ही रहेगा किन्तु कर्म द्वारा दूसरे को कष्ट व हानि पहुँचा कर वह कर्म हिंसा कर चुका ।

अहित भावना की मानसिक हिंसा क्रोधसे उत्पन्न होती है और कर्म हिंसा काम, क्रोध लोभ, मोह मदादि से । मानसिक हिंसा से हिंसक का अपघात होता है और कर्म-हिंसा से उभय पक्षका । कभी कभी अनभिज्ञता व महान् सहिष्णुता के कारण हिंसित पर कर्म हिंसा की वेदना या अपघातका प्रभाव नहीं भी पड़ता, किन्तु प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हानि होती ही है ।

क्रोध दुर्बलताजनित एक मानसिक आवेश है, जो क्रोधी के हृदय में अशान्ति की मार्मिक पीड़ा उत्पन्न कर देता है । प्राणी उस अशान्ति में तमावृत होकर उन्मत्त हो जाता है, विवेक और विचार नष्ट हो जाते हैं; चंचलता की आंधीसी आ जाती है, जो द्वेष का नग्न रूप धारण कर लेती है, जो अहित चिन्तन से आरम्भ होकर हत्याओं तक को उपस्थित कर देते हैं । जिन को कष्ट व हानि पहुंचती है, वे भी क्रोधोन्मत्त होकर प्रतिहिंसा के लिए बौखला जाते हैं । परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से अहित चिन्तन करते हैं और यह क्रम जन्मान्तर तक चलता रहता है । यदि हमें क्रोधजनित अशांति व वेदनासे बचना है; दूसरों की प्रति-हिंसा से अपनी रक्षा करनी है, तो हमें अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर क्रोध से मुक्त रहना चाहिये, ताकि क्रोधजनित पर अहित चिन्तन हमें पीड़ा न पहुँचावे । हमारा यह प्रयत्न जीवन भर, जन्मान्तर में भी चलता रहना चाहिये ।

इस क्रोध के वशीभूत होकर हम अपना भी अहित चिन्तन करते हैं और वह मानसिक आत्महिंसा हमें मानसिक पर हिंसा से अधिक पीडा देती है, क्योंकि पर अहित चिन्तन से हमारे अन्तस्तल में मलिनता, वैर आदि दुर्बलताएं आती हैं, किन्तु आत्म-अहित-चिन्तन (आत्महिंसा) से आत्मग्लानि, आत्मवैर निराशा जैसे सर्वनाशी तमोगुण आ जाते हैं, जो आरम्भ से ही वेदनायुक्त होते हैं।

क्रोध शांत हो जाने पर हम अनुभव करते हैं कि क्रोध से हमने कितनी व्यथा पाई और अपनी मानसिक भावना वाणी, प्रयोग तथा कर्म से कितने अनर्थ किये।

हम क्रोध और अहित भावना की मीमांसा कर चुके और इस निश्चय पर पहुँचे कि, क्रोध व्यथा उत्पन्न करनेवाला मानसिक-दुर्बलताजन्य एक आवेश है। अतः वह हेय है। क्रोध से अत्यन्त उग्र मानसिक हिंसा उत्पन्न होती है। यद्यपि मानसिक दुर्बलता के कारण क्रोध को जीतना महा कठिन है, किन्तु इसको जीते विना निस्तारा भी नहीं। क्रोध के रहते सुखशांति नहीं मिल सकती।

हमने अहित भावना को मानसिक हिंसा बताते हुए क्रोध को इस का उद्गम सिद्ध किया है। तथा क्रोध जन्य अहित भावना की मानसिक हिंसा के मुख्य पहलू को सिद्ध करने के लिए दूसरे मानसिक विकारों से उत्पन्न होनेवाली मानसिक हिंसाओं पर प्रकाश नहीं डाला है। वास्तव में मानव जगत् को हिंसा इतनी प्रिय हो गई है कि इनीगिनी कुछ भूमिकाओं को छोडकर शेष पर पीडा व सरल पीडा को वह हिंसा मानता ही नहीं। और यदि मानता भी है तो उसे बुरा नहीं समझता। इसीलिए हमने हिंसा की भ्रान्त ममताको इस प्रकार धीरे धीरे हटाना उचित समझा है जिससे किसी पाठक को अपनी मनोनीत किसी हिंसा भूमिका को निकृष्ट कहता कर रोष न हो क्योंकि जब हम भ्रांति से किसी बुरी वस्तु को अच्छी मान कर उस से ममता करने लग गये हैं तो जो विचार उसे हेय कहेंगे उन विचार और विचारकों के प्रति हमें रोष होगा, जिसके फलस्वरूप विचार और विचारकोंका कल्याण उद्देश सफल न हो सकेगा। इसीलिए हिंसा की अनेक भूमिकाओं को उचित व वैध माननेवाले महानुभावों के धैर्य को कायम रखने के लिए हमने हिंसा के एक एक पहलू पर प्रकाश डालना उचित समझा है।

हमने त्रासजनक क्रोध से उत्पन्न अहित भावना की मानसिक हिंसा पर प्रकाश डाला है। अब हमने देखना यह है कि क्रोध के अतिरिक्त दूसरे मानसिक विकार हमारे मानस क्षेत्र में क्या दुःखसुख उत्पन्न करते हैं। क्रोध के अतिरिक्त काम, लोभ, मोह और मद भी मानसिक विकार हैं।

बाधा (रुकावट) का नाम दुःख है। हम जो चाहते हैं यदि उसमें रुकावट होती है, तो हमें दुःख होता है। हम जो नहीं चाहते, यदि वह हो जाता है, तो हमें दुःख होता है। अर्थात् हमारी चाह (इच्छा) के विपरीत जो कुछ होता है वही दुःख है।

' काम ' की पूर्तिमें बाधा पडती है तो हमें दुख होता है और क्रोध उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार लोभ, मोह तथा मद में जब बाधा पडती है, हमें दुःख होता है और क्रोध उत्पन्न हो जाता है। वह जरूरी नहीं कि जब जब बाधा पडे, क्रोध उत्पन्न ही हो, किन्तु क्रोध उत्पन्न होता है बाधा के कारण ही। जब तक बाधा न पडेगी, क्रोध उत्पन्न ही न होगा। इसलिये क्रोध में नैसर्गिकता का लेश भी नहीं है। यह एकान्त नैमित्तिक विकार है और इसी लिए क्रोध कभी भी किसी भी अंश में हितकर नहीं है, सदैव घातक दुःखदायी है।

बाधा (रुकावट) एक बाहरी वस्तु है जिस को दूर करना हमारी शक्ति में है भी और नहीं भी। कभी कभी रुकावट हमारे अन्दर भी होती है जो सद्भावना, आलस्य या शक्तिहीनता से उत्पन्न होती है। जो हो, रुकावटें हमारे द्वारा, दूसरे प्राणियों के द्वारा तथा जड द्रव्योंके द्वारा उपस्थित हो जाती हैं। अब हमें यह देखना जरूरी है कि, हमारे मन की विकृत और अविकृत भूमिकाओं में क्या अन्तर है। अर्थात् हमारे मन की एक भूमिका वह थी जब उस में काम, लोभ, मोह, मदका विकार नहीं आया था और एक भूमिका वह है जब इन विकारों में से एक की अधिकने मन को विकृत कर दिया है। हम पाठकों को दार्शनिक फक्किकाओं (नाजुक खयाली) में ले जाना नहीं चाहते, बल्कि अनुभवगम्य व्यावहारिक साक्षी की ओर लाना चाहते हैं। प्रत्येक विचारशील मनुष्य अकेले

चिंतन से यह जान सकता है कि काम, लोभ, मोह, मद विकारों के प्रवेश से पहले उस के मन की भूमिका पूर्ण शान्त थी और किसी प्रकारकी असह्य वेदनाकी भी प्रतीति न थी। हमारे मन भी ऐसी अविकृत निश्चित्तयुक्त भूमिका को प्राप्त होते रहते हैं चाहे वे क्षणभर के लिए ही क्यों न हों और यह भूमिका ही स्वाभाविक भूमिका होती है। ज्योंहि काम, लोभ, मोह, मद का विकार मन में आता है त्योंहि वहां एक व्यथा, अशान्ति, उद्विग्नता उत्पन्न हो जाती है, इसका अनुभव हम, अपने मनस्तत्त्व की शान्त व चंचल भूमिकाओं का थोडासा चिन्तन करके कर सकते हैं।

मन की शान्त स्वाभाविक भूमिका में काम, लोभ, मोह, मदने विकार उत्पन्न कर दिया, तब ये विकार मनकी स्वाभाविक भूमिका के लिए "बाधा" हुए। "बाधा" दुःख का नाम है। अतः काम, लोभ, मोह सारे दुःख हैं।

आरम्भ में हमने "हिंसा" के वास्तवर्थ की उपेक्षा की है। अब हम हिंसा के वास्तवर्थ पर प्रकाश डालना जरुरी समझते हैं। "हिंसा" हनन (काटने, टुकडे करने) का नाम है। एक वस्तु या भाव के बीच जब कोई दूसरी वस्तु या भाव एक वा अनेक स्थानों पर आ जाते हैं, तो वह वस्तु या भाव विभाजित हो जाता है, छिन्नभिन्न होकर टुकडों में बदल जाता है। यह बीच में आ पडनेवाली वस्तु या भाव ही बाधक है, इसे ही विकार कहते हैं, तथा "बाधा" का ही दूसरा नाम दुःख है। अतः जो वस्तु या भाव किसी वस्तु या भाव के बीच में पडकर उस वस्तु या भाव की मौलिक भूमिका में विकार उत्पन्न करता है, या टुकडे करता है, वह वस्तु या भाव हिंसक है; हनन करनेवाला टुकडे करनेवाला है। अतः काम, लोभ, मोह, मद हिंसक हैं और इन का विकार हिंसा है, मानसिक हिंसा है। मन की शांत मौलिक भूमिका में ये बाधक, भेदक बने हैं, अतः ये सब दुःखदाई हैं और जो बाधा विकार इन्होंने मन की शांत मौलिक भूमिका में उत्पन्न किये हैं, वे दुःख हैं।

अब हम बिलकुल स्पष्ट शब्दों में कह देना चाहते हैं कि हिंसा और दुःख पर्याय हैं। जहां दुःख है, वहां हिंसा है, जहां हिंसा है, वहां दुःख है। अतः काम, लोभ, मोह, मद का मन में उत्पन्न होना, आना हिंसा है, मानसिक हिंसा है, दुःख है।

इन विकारों की पूर्ति में "बाधा" पडने से "क्रोध" की पीडा होती है और जब तक इनकी पूर्ति नहीं हो लेती, तब तक पीडा होती रहती है। पूर्ति हो लेने पर पीडा शांत हो जाती है, ऐसा हम अनुभवसा करते हैं, या मानते हैं।

काम लोभादि जब आये तब वेदना हुई; ये जब तक मन में रहेंगे, वेदना होती रहेगी, इनकी पूर्ति में बाधा पडेगी, तो क्रोध उत्पन्न होकर एक असह्य वेदना पहुँचायेगा; जब तक इनकी पूर्ति न होगी, ये स्वयं व्यथा देते रहेंगे; इनकी पूर्ति हो जाने पर शांतिसी प्रतीत होगी। अतः—

(१) इन हिंसकों का आना दुःखदायी।
(२) इन का मन में रहना दुःखदायी।
(३) इनकी पूर्ति में बाधा पडने पर क्रोध, दुःख का उत्पन्न होना।
(४) इनकी पूर्ति जब तक न हो, तब तक ये दुःखदायी।
(५) पूर्ति हो जाने पर मूर्छा, थकान, शिथिलता का भ्रांत सुख या दुःख का अभावसा।

इस मीमांसा से स्पष्ट हो गया कि हमें मानसिक कष्ट देनेवाली पांच मानसिक हिंसाएं हैं। ये पांच मानसिक हिंसाएं मन में उत्पन्न होकर हमें ही व्यथा देती हैं। किसी दूसरे को तब तक इन से हानि वा दुःख नहीं होता जब तक हम इन के वशीभूत होकर वाणी, लेखनी वा कार्य के द्वारा कोई कार्य नहीं कर डालते।

काम, लोभ, मोह, मद विकृत मन की इच्छाओं के भिन्न भिन्न रूप हैं—

काम।

मन जब किसी स्थिति को सुखदायक, प्रिय मानकर उस स्थिति की अभिलाषा करता है, तो उस अभिलाषा को "काम" कहा जाता है। इस कामकी अनेक श्रेणियां हैं।

लोभ।

मन जब किसी वस्तु या भाव को, जो उसे प्राप्त नहीं है, प्रिय, सुखदायक मानकर, उस वस्तु वा भावकी अभिलाषा करता है, तब उसे "लोभ" कहा जाता है।

मोह।

किसी वस्तु की वास्तविकता न समझ कर या भूलकर कुछ से कुछ समझ लेना "मोह" है, तथा प्राप्त वस्तु में प्रियता के कारण ममत्व हो जाने से उस वस्तु को अक्षुण्ण बनाये रखने की अभिलाषा का नाम "मोह" ममता है।

मद।

प्राप्त वस्तु वा भाव के अधिकार के अभिमान, अहंकार का नाम "मद" है।

अतः हमारी समस्त इच्छाएं काम, लोभ, मोह, मद के अन्दर आ जाती हैं। हम इन मानसिक विकारों पर पृथक् पृथक् प्रकाश डालना जरूरी समझते हैं।

काम।

कामेच्छा की पूर्ति रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श से होती है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द हम में भी हैं और दूसरे जड़ चेतन जगत् में भी। रूप, रस, गंधादि की सूक्ष्म और स्थूल दो भूमिका हैं। हम स्थूल को जानते हैं, सूक्ष्म को ठीक ठीक समझते भी नहीं। इसलिये अपने ही रूप, रस, गंधादि की सूक्ष्म भूमिका से कामेच्छा-पूर्तिकी चर्चा तबतक अनधिकार चेष्टा है, जबतक लेखक व पाठक इन सूक्ष्म भूमिकाओंको साक्षात् न कर लें। जब हम अपने ही रूप, रस, गन्धादि की सूक्ष्म भूमिका को नहीं जानते तब दूसरे जड चेतन जगत् के रूप, रस, गंधादि की सूक्ष्म भूमिका को कैसे जान सकते हैं? अतः स्थूल भूमिका में ही हमें कामेच्छा पूरी करनी पडती है।

हम में रसना की चाह है, क्योंकि हम को क्षुधा है और रस प्रिय लगता है। क्षुधा और रस की प्रियता (भोजन का स्वाद) सापेक्षित हैं। विना क्षुधा के स्वादु भोजन में भी प्रियता नहीं (यदि हमने विना क्षुधा के सुस्वादु भोजन के करने की कुटेव का अभ्यास नहीं किया है) और क्षुधा में रसहीन भोजन स्वादु नहीं लगता (यदि हमने अरोचक अप्रिय वस्तुओं के खाने का बलात् अभ्यास नहीं किया है)। क्षुधा (भूख और प्यास) है शरीर की ममता से तथा स्वादु भोजनमें वासना है भोजनके सदैव परिवर्तनशील रसकी अनभिज्ञताके कारण। इसी प्रकार रूप में ममत्व है रूप की वास्तविकता के न जानने के कारण और यही कारण है गन्ध स्पर्श व शब्द सुख के लिए।

लोभ।

वस्तुओंकी नश्वरता व वास्तविकता न जाननेके कारण (जिन में बुरा भला, प्रिय अप्रिय कुछ नहीं है) हमें मोहवश उन वस्तुओं को प्राप्त करने का लोभ हुआ है जो हमें प्राप्त नहीं हैं। और यही परिस्थिति मद की है।

हमारी इस सूक्ष्म मीमांसा से पाठक अधीर हो गये होंगे। उन्हें भय लगता होगा कि सर्वत्र हिंसा ही हिंसा है। इस हिंसा से बचें कैसे? यहां हमारा उद्देश्य हिंसा से बचाना नहीं है बल्के हिंसा की रूपरेखा को स्पष्ट करना है।

दु:ख से सब बचना चाहते हैं। प्राणीमात्र को दुःख से द्वेष है और दुःख विना हिंसा के मिल नहीं सकता। चाहे वह हिंसा मन की हो या कर्म की। अपने आप की गई हो या किसी दूसरे प्राणी द्वारा।

काम, क्रोध, लोभ, मोह और मद विकार हमारे मन में उत्पन्न ही न हों, यह साम्प्रत हमारे लिए असम्भव नहीं तो महा कठिन जरूर है और हमारी स्वाभाविक इच्छा दुःख से बचना है, यह एक सिद्ध बात है। अत. काम क्रोधादि जिस मात्रा में जब जब हममें विकार उत्पन्न कर देते हैं। उसी भूमिका से हमने अपने अन्तस्तल को वेदना मुक्त करने का प्रयत्न करना है।

काम, लोभादि का जितना अधिक चिंतन हम करेंगे, उतनी ही इनकी उत्कटता बढती जायगी। अतः इन का चिन्तन, इन में तल्लीन होना, मानसिक विकारों, मानसिक रोगों को बढाना, दुःखों की नई नई रचना करना है। अतएव मन को अविकृत निरोग रखने के लिए जरूरी है कि हम विकारों का चिंतन न करें और यदि ये अनायास आ जावे तो मनको किसी दूसरे काममें लगाये रखें।

कर्म से कामचेष्टा (भोजन, मैथुन, आदि) की पूर्ति न करके भी मनमें चिन्तन से इन वासनाओं की कल्पित पूर्ति द्वारा मन को मोहित, मस्त व व्यथित किया जाता है जिस के फलस्वरूप चिन्तन से स्वप्नदोष व स्वादु भोजन की वासना, वीर्यपात से रति की पुनः अभिलाषा व शरीर ह्रास तथा अन्य इंद्रियों की दुर्बलता (विषय-

लोलुपता) दृढ होकर, मानसिक शांति का अपघात होकर चंचलता, उद्विग्नता की व्यथा निरन्तर बढती रहती है। यही व्यापार लोभ, मोहादि विकारों से होता है। जब इनकी उत्कटता इस मात्रा तक बढ जाती है कि ये मन को चंचल कर देते हैं, तब मन कर्म क्षेत्र में उतर आता है और साधन उपलब्ध होनेपर इनकी इच्छापूर्ति करता है। मानसिक चिन्तनके अतिरिक्त चटपटे, स्वादु उत्तेजक भोजन, नशे, चित्ताकर्षक रूप, चित्र, सुगन्ध तथा कामुक श्रवणों से भी इन विकारों, रोगों का वेग बढ जाता है। मानसिक रोगियों को ये कुपथ्य रोगोन्मत्त करते हैं और निरोगियों को रोगग्रस्त।

खान पान तथा रहन सहन के कुपथ्य से उत्पन्न होकर शारीरिक रोग हमें मार्मिक पीडा, क्षति और मृत्यु-दुःख देते हैं जिन से बचने के लिए हम सब प्रकार के पथ्य और चिकित्सा को अपनाते हैं। ठीक इसी प्रकार काम क्रोधादि विकारों से मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं जो कहीं अधिक भयंकर और दुःखदायी होते हैं। यदि मानसिक रोग (काम क्रोधादि) न हों तो शारीरिक रोगों से हानि कितनी ही हो, दुःख नहीं हो सकता। जब क्रोध मन से ममता, कामना, लोभ को मार भगाता है, तब यदि हमारी किसी प्रिय वस्तु की क्षति हानि हो जाय तो हमें उस क्षति से दुःख नहीं होता। यह एक तुच्छसा उदाहरण है। हम देखते हैं कि कालान्तर में सब दुःख विस्मृत होकर नष्ट हो जाते हैं क्योंकि कालान्तर में नष्ट पदार्थों के प्रति ममता, कामना लुप्त हो जाती है।

पुत्र की मृत्यु का दुःख तब तक रहता है, जब तक पुत्र में ममता रहती है। ज्यों ज्यों ममता घटती जाती है, दुःख भी कम होता जाता है और कालान्तर में मनकी एक ऐसी भूमिका आती है कि हम मृत पुत्र के ममत्व को चिन्तन कर के भी मन में नहीं बटोर सकते, तब हमें पुत्र-वियोग का, चेष्टा करने पर भी, दुःख नहीं होता। इतना ही नहीं, मृत्यु-काल के कुछ पश्चात् ही यह दुःख तिरोहित होने लगता है। यदा कदा मनमें ममत्व याद आने से उस दुःखकी पुनरावृत्ति, वह भी न्यून मात्रामें हो आया करती है। अतः इन मानसिक रोगों से बचने का, न्यून करने का सहज स्वाभाविक मार्ग यही है कि हम इन के

चिन्तन से मन को बचावें और चिन्तन से बचने का सुलभ उपाय यही है कि मन को कभी बेकार न रहने दें, किसी यज्ञीय विवेकमय चिन्तन में लगाये रखे।

शारीरिक एवं मानसिक रोगों में कार्य से पूर्व कारण को रोकना श्रेष्ठ है। इसलिए अपनी सुख शांति के निमित्त इन मानसिक रोगों, विकारों, हिंसाओं से बचते रहना चाहिये। कोई भी शारीरिक रोग ऐसा नहीं है, जो कामक्रोधादि मानसिक विकारों से उत्पन्न न होता हो, अतः खान पान जीवनचर्या के कुपथ्यों के अतिरिक्त मानसिक विकार भी सब प्रकार के रोगों को उत्पन्न करते हैं।

हमारा यह जीवन खा, पी, मजा उड़ाने के लिए नहीं है। खा, पी तो इस शरीर को स्वस्थ निरोग रखकर उस मुहूर्त तक कायम रखने के लिए है, जब तक हम अपने आप को इन मानसिक विकारों, रोगों से मुक्त नहीं कर लेते। दुनिया के उन पदार्थों की उस मात्रा तक कामना हमारे लिए स्वाभाविक है, जिन पदार्थों की जिस मात्रा से हम अपने शरीर को अपनी अभीष्ट सिद्धि तक कायम रख सकते हैं। इस से किंचित् भी अधिक कामना परिग्रह (चारों ओर से समेटना) है। व्यर्थ ममताग्रस्त होकर एक व्यर्थ काम में अपने समय, श्रम, शक्ति का अपव्यय करना है, तथा दूसरे प्राणियों को उन पदार्थों से वंचित करना है, जिन के द्वारा वे अपने शरीर को उस मुहूर्त तक स्वस्थ, समर्थ रखकर कायम रख सकते, जब तक वे मानसिक रोगों से मुक्त न हो जावे।

हमें दृढ विश्वास रखना चाहिये- " **हमारे ये शरीर परिपूर्ण चिकित्सालय, अस्पताल हैं, जिन में रहकर हमने अपने आपको मानसिक रोगों से मुक्त करना है।** " हमारी तरह दूसरे मनुष्य भी मानसिक रोगी हैं, जो अपने शरीरों (शिविरों) में अपना इलाज मालजा कर रहे हैं। किन्तु हम कभी कभी मानसिक रोगों के वशीभूत होकर मानसिक कायिक कुपथ्य भी करते जाते हैं।

रोगी को चिकित्सक से प्रेम होता है और चिकित्सक को रोगी से, रोगी स्वार्थ वश प्रेम करता है और चिकित्सक दया वश। स्वार्थ वश प्रेम कृतज्ञता है और दया वश प्रेम दान। इसी कृतज्ञता और दान का नाम आत्मीयता है। समान गुण, कर्म, स्वभाववालों में स्वभावतः एकता, मैत्री,

आत्मीयता होती है, क्योंकि अविरोध का ही नाम एकता है। हम सब जीव हैं और मानसिक रोगी भी। अतः हम सब में गुण, स्वभाव की समानता के कारण आत्मीयता होनी ही चाहिये। चोरे चोरे मोसेरे भाई है, तो रोगी रोगी भी भाई हैं, आत्मीय हैं।

हम मानसिक रोगी हैं और हमारे मानव बन्धु भी रोगी हैं। सब अपने अपने शरीर अस्पतालों में अपना इलाज मालजा कर रहे हैं। अतः अस्पताल के रोगियों की तरह सब एक दूसरे के आत्मीय हैं, किन्तु हम अक्सर रोग के वशीभूत होकर आत्मीयताके क्षेत्र से बाहर निकल जाते हैं और चिरकाल तक नहीं लौटते। जब कभी हम या हमारा कोई रोगी भाई रोगवश भूल करे, तो हमें याद रखना चाहिये कि हम और वह रोगी हैं। हमारी या उस की भूल रोग के कारण है। अतः हमें अपने ऊपर या अपने किसी रोगी भाई पर रोष नहीं करना चाहिये, बल्के क्षमा। क्योंकि रोष कर के हम अपने मानसिक रोग में कुपथ्य की वृद्धि करेंगे और हमारे रोष से उस रोगी के मानसिक रोग में भी कुपथ्य की, कोप की वृद्धि होगी।

आत्मीयता क्यों ?

(१) हम सब आत्मा हैं, समान हैं, अविरुद्ध हैं। समान में ही एकत्व, एकता, मेल होता है। आत्मा होने से हम आत्मीय हैं। विकारों, निमित्तों, बाधाओं, हिंसाओं तथा दुःखोंने हम में विकार, विभाजन, अनेकता, अनात्मीयता, गैरियत पैदा कर दी है।

(२) हम सब मानसिक रोगी हैं, दुःखिओं, रोगियों की आपस में आत्मीयता होनी ही चाहिये।

(३) मानसिक रोग संक्रामक हैं और हम ही चिकित्सक व उपचारक हैं। जबतक हम दयाभाव से आत्मीयता वश मानवों की चिकित्सा नहीं करेंगे, तबतक ये संक्रामक मानसिक रोग हमें व समस्त मानव जगत् को व्यथित करते रहेंगे। जिन जिन को हम रोगमुक्त करते जावेंगे, उन से हमें जो प्रेम, मैत्री, स्नेह मिलेगा, वह अनिर्वचनीय है।

(४) हम रोगी हैं। चिकित्सकों की उपासनासे हमें रोग से छुटकारा मिलेगा; जो अनात्मीय भाव हममें आ गये हैं, वे [illegible] हो जावेंगे। अपने चिकित्सकोंके प्रति हममें कृतज्ञता, प्रेम, आत्मीयता होनी ही चाहिये। क्योंकि कृतज्ञता इस बात का प्रमाण है कि रोग न्यूनता द्वारा हमें विवेक का स्वास्थ्य लाभ हुआ है। दूसरे कृतज्ञता चिकित्सकों को उपकारमें रत रखेगी, दूसरे रोगी स्वास्थ्य लाभ करेंगे। यदि चिकित्सा बंद हो गई तो दूसरे रोगियों के मानसिक रोग बढ़ जायेंगे जो संक्रामक होने से पुनः हमें आ घेरेंगे।

(५) रोग संक्रामक हैं और हम रोगी हैं। अतः स्वयं रोग मुक्त होने के लिये जरूरी है कि उस रोग से पडौसी भी मुक्त होता जाय। सूक्ष्म रूप से हमारे प्राणी भाइयों का पडौस हमें हर समय प्राप्त है। इसलिये हम में, अपने समस्त रोगी भाइयों के प्रति, चिकित्सानिमित्त, पूर्ण आत्मीयता की जरुरत है अपने साथ साथ उन्हें भी रोग मुक्त करने कराने की।

हम सब मानवों को इन मानसिक रोगों से बचने के लिये औषधि व उपचार की जरुरत है। औषधि और उपचार हैं धैर्य, प्रेम, सहानुभूति, सहयोग और विवेक। अतः इन मानसिक रोगों से मुक्त होने के निमित्त हम को विवेक प्रेमादि के दान प्रतिदान द्वारा चिकित्सा चलानी है। इसके बिना हम रोगमुक्त नहीं हो सकते। विवेकसे हमने वास्तविकता को जानना है, जिसको न जानने के कारण हम काम क्रोधादि में फंस जाते हैं। प्रेम, सहानुभूति से हम सहयोग प्राप्त कर सकते हैं और सहयोग से विवेक। इसलिये आत्मीयता के बिना हमारी चिकित्सा चल ही नहीं सकती।

(१) क्षमा से धैर्य। (२) धैर्य से प्रेम, आत्मीयता। (३) प्रेम आत्मीयता से सहयोग। (४) सहयोग से विवेक। (५) विवेक से रोगमुक्ति।

इन रोगों को दूर करने की चेष्टा में असफल होने से एक नई वेदना होती है, जो चेष्टासे पहले नहीं थी। ऐसी अवस्था में इन मानसिक विकारों, हिंसाओं को दूर करना भी एक नया दुःख नई हिंसा है।

इस शंका में बल है किंतु हमें देखना यह है कि इस में कारण क्या है। कहीं हमने मानसिक रोग दूर करने के लिए चिकित्सा के स्थान में भ्रांति वश कोई कुपथ्य तो नहीं कर डाला? मानसिक हिंसा से मुक्त होने के लिये कोई मानसिक या कर्म हिंसा तो नहीं कर डाली? जांच

का जवाब घूंसे से तो नहीं दिया ? विष को मिटाने के लिये नया विषपान तो नहीं कर डाला ? यदि ऐसा हो गया है तो हम असफल हुए हैं और हमारा अन्तस्तल पहले से कहीं अधिक क्षुब्ध, अशान्त हो गया है। क्योंकि हमने हिंसा करके कुपथ्य की वृद्धि की है, एक नये दुःख की रचना कर डाली है। और यदि हमने पूर्ण लक्ष्य से औषधि सेवन की है, मन को मानसिक हिंसा रोग से मुक्त करने के (काम क्रोधादि के न्यून करने के) लिए अहिंसामय पथ्यों का सेवन किया है, तो यह निश्चय है कि हमारा मन पहले से कहीं अधिक स्वस्थ, निर्विषय तथा दुःखमुक्त हो गया है फिर भी हम में असफलता, निराशा की जो वेदना, जो हिंसा हो रही है उस का कारण है 'अहंकार।' इस 'मद' हिंसा, इस अहंकारने हमें यह भास करा दिया था कि अमुक मात्रा के अभ्यास में हम रोग मुक्त हो जावेंगे किन्तु औषधि, उपचार की उस मात्रा से कहीं अधिक जरूरत थी। यह निराशा, असफलता का दुःख हमें 'मद,' 'अहंकार' के कारण हुआ है। क्या हमने अपने मन को इस "मद" रोग 'मद' हिंसासे मुक्त कर लिया है ?

हमें विश्वास और धैर्य रखना चाहिये और पुनः औषधि व उपचार को तबतक चालू रखना चाहिये जबतक हम पूर्ण स्वस्थ न हो जावें। 'मद' ने एक नया दुःख हताशा, निराशा को दिया जरूर, किन्तु हमारे अबतक के इलाज माफजेने बहुत हद तक हमें काम क्रोधादि से मुक्त कर दिया है। अतः मानसिक हिंसाओं को दूर करने के प्रयत्न से कोई नई हिंसा या नया दुःख उत्पन्न नहीं हुआ है। जो दुःख निराशा का मिला है, वह तो पुराने हिंसक "मद" की करतूत है। ऐसा दुःख ऐसी हिंसा जो "मद" हिंसक द्वारा तब भी होती रहती है, जब हम इस "मद" "अहंकार" के वशीभूत होकर अपने "काम" हिंसक की "कामना" हिंसा को पूरा करने के लिए किसी अमुक मात्रा, अवधि या प्रयत्न को अभीष्ट सिद्धि मान लेते हैं और उस मात्रा अवधि या प्रयत्न की पूर्ति पर भी हमें अभीष्ट प्राप्त नहीं होता, या किसी बाहरी बाधा के कारण प्राप्त होता होता रह जाता है।

इन मानसिक हिंसाओं से मुक्त होने के लिए जब हम प्रयत्नशील होते हैं, तो कोई बाधा डालकर हमें मारना चाहता है, तब भी हमें दुःख होता है। इस से तो यही बेहतर होता कि हम प्रयत्नशील ही न होते, जिस से हमें इस नई बाधा, नई हिंसा का दुःख न भोगना पड़ता।

बाधा दूसरे के द्वारा उपस्थित की जरूर गई है, लेकिन हमें जो दुःख हुआ है, हमारे अपने अन्दर के विकारों के कारण से हुआ है। हमारे मन में काम, लोभ, मोह, मद, विकार रोग की हिंसाएं थीं। इसीलिए दूसरों की बाधा से हमें क्षोभ हुआ।

(क) हम में मोह वश जल्दबाजी थी कि शीघ्र इन मानसिक रोगों से मुक्त हो, क्योंकि हम भूल गये थे कि हम, हमारा जीवन व अवधि अनन्त हैं।

(ख) दुःखमुक्तिकी ममताने हममें कर्मसे पहले ही कर्म-फलमें आसक्ति उत्पन्न कर दी थी और हम "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" (Acticn is thy duty; reward is not thy Concern.) को भूल गये थे।

(ग) जब हमारे मनोनीत फल प्राप्ति में बाधा पड़ी तो हम व्यथित हो गये। यह व्यथा तो हमारे मन में पहले से ही प्रतिष्ठित काम हिंसक के कारण हुई।

तब तो काम क्रोधादि सर्वांग दुःखदाई हिंसा हैं। ऐसी अवस्थामें सन्तानादि उत्पन्न करना भी हिंसा कर्म ही होगा।

हम कह आये हैं कि जिससे मन की नैसर्गिक भूमिका, आत्मा के मौलिक स्थिति में विकार, बाधा, विभाजन हो, वह कार्य, भाव हिंसा है, दुःख है। परिवर्तन किसी का स्वभाव नहीं होता। परिवर्तन हमेशा निमित्त से होते हैं। अतः काम क्रोधादि मन, आत्मा की मौलिक भूमिका के परिवर्तन में निमित्त हैं, विकार हैं, भेदक हैं, अत. हिंसा और दुःख हैं। रही सन्तनोत्पत्ति की बात, यह एक प्रायश्चित्त है।

प्रकृति की नैसर्गिक, व्यावहारिक व्यवस्था सर्वांग युक्ति युक्त है। मानसिक रोगी काम क्रोधादि हिंसाओं से मुक्त होने के लिए शरीर अस्पताल में अपनी चिकित्सा कर रहा है। आत्मचिन्तन, सात्विक आहार विहार के पथ्यों का सेवन चल रहा है। सहयोग विवेक की औषधि की जा रही है। रोगी कुपथ्यों के पास नहीं जाता है। इतने पर भी विवेक औषधि का पूर्ण प्रभाव होने से पूर्व, रूप स्पर्श की

वास्तविकता का पूर्ण साक्षात् न होने से यदाकदा कामेच्छा का दौरा पड़ जाता है। इस दौरे से मन, आत्मा हिंसित व्यथित होकर क्षुब्ध हो जाते हैं। परोक्ष रूप से शरीर का ओज (वीर्य) च्युत हो जाने की सम्भावना हो जाती है, कामोन्माद चंचलता को बढाता रहता है, जिस के परिणाम स्वरूप अब तक की साधना संयम भंग प्रायः हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में किसी दूसरे, उसी प्रकार के मानसिक रोगग्रस्त प्राणी (स्त्री) में, जो काम-वासना का माध्यम है, सन्तानोत्पत्ति का उपक्रम आपद्धर्म के रूप में तब तक होना युक्तियुक्त है, जब तक वे दोनों रोगी स्त्रीपुरुष शरीर अस्पताल में विवेक की पूर्णता प्राप्त करके उक्त हिंसाओं से सर्वथा मुक्त न हो जावे।

कामेच्छा के निरन्तर होनेवाले वेग से मन आत्मा में क्षोम हो चुका है। शरीर से वीर्यपात का होना अनिवार्य-सा हो गया है। स्त्रीपुरुष दोनों ही विवेक की अपूर्णता के कारण साधक होते हुए भी हिंसाजनित इन दुःखों, हानियों को सहन करने के लिए विवश हैं। क्यों न इस होनेवाले क्षति से कुछ उपकार कर लिया जावे? अतः " जो धन जाता देखिये आधा लीजे बांट " कहावत के अनुसार इस अनिवार्य तथा अपरिहार्य क्षति से सन्तानोत्पत्ति का प्रत्युपकार उन के लिए एक आपद्धर्म हो गया है, ताकि वे अपने जैसे किसी दूसरे प्राणी को काम क्रोधादि हिंसकों से छुटकारा पाने के निमित्त चिकित्सा के लिए मानव-शरीर-अस्पताल में ले आवें।

इस मानवी इस्पताल में भी यह विकल्प (Option) पाते हैं कि वहां अपवादरूप में अत्यन्त रसनालोलुप रोगियों को पथ्य में कुछ रियायत दे दी जाती है। यद्यपि ये रियायतें रोग मुक्ति अवधि को दीर्घ कर देती हैं। इसी प्रकार प्रकृति के नियमों में भी अपवादरूप विवशतावश युक्तियुक्त रियायत बनी हुई है। बल्के प्रकृति की रियायत में एक सुभीता भी है कि यदि एक ओर रोगी के अन्तस्तल में हठात् कामवासना की मानसिक हिंसा मैथुन कर्म में परिणत होकर रोगी का शारीरिक, मानसिक क्षय करती है, तो दूसरी ओर इस मानव शरीर इस्पताल में चिकित्सार्थ आने का उपक्रम।

मानसिक हिंसाओं को उत्तेजित करनेवाले पदार्थों का अभावसा होने पर भी अनेक मानसिक रोगियोंने विवेक की अपूर्णता के कारण, रूप, स्पर्श के रहस्य का साक्षात् करने में असफल रह कर इस काम मैथुन कुपथ्य का अति आचरण कर डाला, जिस से रोगियों में निम्न गड़बडी हो गई।

(१) एक ही स्त्री में अनेक पुरुषों की कामेच्छा। (२) एक ही पुरुष में अनेक स्त्रियों की कामेच्छा। (३) एक एक पुरुष की अनेक स्त्रियों में कामेच्छा। (४) एक स्त्रीकी अनेक पुरुषों में कामेच्छा। (५) कामेच्छा पूर्ति के फल-स्वरूप सन्तान के पालन पोषण का भार केवल स्त्री पर पड़ना और पुरुष का इस उत्तरदायित्व से मुक्त रहना। कतिपय स्त्रियों का इस दोहरे उत्तरदायित्व को त्याग देना या स्त्री की मृत्यु से रुक जाना और बालक का पालन-पोषण के विना रोगमुक्ति से पहले ही यन्त्रणा भोग कर मर जाना।

हम कह आये हैं कि विकार, कुपथ्य, बाधाएं, दुःख, मानसिक हिंसाएं मन में चंचलता, क्षोम, व्यथा उत्पन्न करते हैं, जिन के कारण मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ होकर पथभ्रष्ट हो जाता है और कुपथ्यों से बचनेके लिए नवीन कुपथ्यों की रचना करता है; हिंसाओं से बचने के लिए हिंसाओं को बटोरता है। अतः अहितकर वर्जित मैथुन को विवशता से आपद्धर्म मानकर स्वीकार करने पर अनेक कामुकता के प्रवाह में बह गये और उपर्युक्त परिणाम कुपथ्यों के कारण होने लगे जिस से आपस में वैरभाव झगडे चल पडे। क्योंकि एक ही स्त्री में अनेक पुरुषों का अनुरक्त होना प्रत्येक की इच्छापूर्ति में बाधक था जिस के फल स्वरूप क्रोध उत्पन्न हुआ और तज्जनित आवेश से मारकाट, छल, छिद्र की हिंसा।

विवेकी चिकित्सकोंने इस अव्यवस्थाको दूर करनेके लिए विवाहप्रथा की रचना की। केवल सन्तानार्थ विवाह और विवाह कर के सन्तान अवश्य उत्पन्न करना निश्चित कर दिया। रतिसुख (कामवासना) के लिए विवाह नहीं था। केवल उन मानसिक रोगियों के लिए जरूरी था, जो रूप स्पर्श के रहस्य का साक्षात् करने में विवेक से अपूर्ण थे और यदाकदा कामेच्छा से आक्रांत हो जाते थे। जो कामेच्छा रोग से मुक्त हो चुके थे और इस

संक्रामक रोग से अपने को बचा सकते थे, उन के लिए विवाह अवांछनीय था। वे अविवाहित रहकर ही उच्च कोटिके श्रद्धास्पद चिकित्सकों में गिने जाते थे।

विवेकी चिकित्सकोंने इस विवाह प्रथा के आविष्कार में एक बहुत ऊँचे वैज्ञानिक व दार्शनिक आदर्श की रूपरेखा कृती थी जो रोगियों की चिकित्सा पद्धतिमें मनोहर रूपसे साधक बनीं। काम, लोभ, मोह के मानसिक रोग जो मन आत्माका हठात् हनन कर देते थे। उनका हठात् क्षोभ इस सन्तानोत्पत्ति प्रत्युपकार में प्रायश्चित्त, आपद्धर्म में संतान के पालन, पोषण, शिक्षण में खूराक व खाद का काम करता था। शक्तिभर रोकने पर भी न रुकनेवाला आत्मघात बलिदान में परिणत कर दिया गया था।

इस विवाह प्रथा के निम्न लाभ रोगियों को होते थे-

(१) काम, लोभ, मोह अब आत्मघात न कर के सन्तान के पालन पोषण में सहायक होते थे। (२) माता बनकर स्त्री की कामेच्छा न्यून हो जाती थी। पालनपोषण चिंतन उस इच्छा को दूर रखता था अर्थात् मन अब काम चिंतन से हटकर एक यज्ञीय चिन्तन में लग गया था। स्त्रीकी सगुण आत्मा चिकित्सालय की धात्री (Nurse) बन गई थी। दूसरी सन्तानें उत्पन्न होकर इस यज्ञीय चिंतन में योग दे रहीं थीं। यही कारण है कि एकबीस वर्षीया माता उतनी कामुक नहीं होती, जितनी कि वह चालीस वर्ष की आयु में माता न बननेपर होती।

संतान के पालनपोषण के यज्ञीय प्रत्युपकार में लगने से पिता का चिन्तन भी यज्ञीय हो गया था। काम, लोभ, मोह, मत्सर हनन न करके बलिदान कर रहे थे, क्योंकि कामचिन्तन के स्थान में सन्तान-चिन्तन आ गया था। यही कारण है कि एक २५ वर्षीय पिता उतना कामुक नहीं होता, जितना कि वह ४० वर्ष की आयु में पिता न बनने पर होता।

वैवाहिक जीवन की इस गृहस्थ प्रथा में इन दोनों मानसिक रोगियों के कार्यक्रम के लिए एक और दार्शनिक महत्त्व था। मानसिक रोगियों की मानसिक रोग-हिंसा के कारण आत्मपीडा हो ही जाती थी, जिस के प्रायश्चित्त स्वरूप सन्तानोत्पत्ति का प्रत्युपकार नवीन प्राणी को शरीर अस्पताल में लाने के लिए हो जाता था। यह प्रत्युपकार उस मानसिक हिंसा रोगजनित क्षयका आंशिक सदुपभोग था किंतु सन्तान उत्पन्न करके उस शिशु-शरीर-हस्पतालका पालनपोषण व प्राणीका शिक्षण जरूरी था जिनके बिना वह चिकित्साके ज्ञान कर्म से अनभिज्ञ रहकर रुग्णावस्था में ही एक यन्त्रणा में तडप कर मर जाता। स्त्री स्वभावतः कोमल थी, क्योंकि मातृत्व व प्रजनन के लिये कोमलता अनिवार्य है। कोमल स्वभाव होने से वह बाहरी दौड धूप द्वारा साधन संग्रह करने में असमर्थ थी। गर्भकाल उस की इस असमर्थता को और बढा देता था। स्त्री की अपेक्षा पुरुष बलवान् व कठोर होने के कारण बाहर के साधनों को दौड धूप करके जुटा सकता था। इसलिए पुरुष के लिए दौड धूप करके साधनों का संग्रह करना और स्त्री के लिए उन संग्रहीत साधनों को सिद्धि में परिणत करना सहज था। अत: स्त्री पुरुष के लिये अपने निर्वाह व सन्तान के पालन, पोषण तथा शिक्षण के लिए साधन संग्रह व सिद्धि के कार्य की इस गृहस्थ व्यापार में साझेदारी तबतक के लिए सर्वांगसुन्दर व युक्तियुक्त थी, जबतक वे दोनों मानसिक काम हिंसा के हठात् आखेट होकर हिंसित होते रहें और उस अपरिहार्य क्षति से सन्तानोत्पत्ति का प्रत्युपकार सिद्ध किया जा सके। इस प्रत्युपकार की क्षमता समाप्त होनेपर उन दोनों पति पत्निका पृथक् होकर फिर शेष जीवनमें रोग निवारण के कार्य को चालू रखना जरूरी था।

बालक का शरीर-अस्पताल अपूर्ण व अपरिपक्व होने से निर्बल व अशक्त था। मन भी सूक्ष्म रूप से एक भौतिक द्रव्य ही है। शैशव में मन (Mind) भी अपरिपूर्ण ही था। इसलिये बालक शैशवकाल में मानसिक रोगों, हिंसाओं का न चिन्तन ठीक ठीक कर सकता था, न शरीर द्वारा चेष्टा। रोग थे किंतु उन के आवेश को पूरा करने-वाले मन और शरीर अपूर्ण व अशक्त थे। रूप, स्पर्श में अविवेक के कारण उस की कामना थी, किन्तु मन व शरीर दोनों की अपूर्णता के कारण वह भडक नहीं सकती थी। शिक्षण ही चिकित्सा का दूसरा नाम है। नवागन्तुक मानसिक रोगी (बालक) रूप, रस, स्पर्श आदि की वास्तविकता के लिये परिभाषा व्याख्या सीख रहा था, ताकि वह इनके यथार्थ को समझ जावे और कामादि से

हिंसित न हो । इस ज्ञान अर्चनसे उसे सीखना था- (१) शरीर--अस्पताल को स्वस्थ, निरोग, बलवान् व दीर्घजीवी रखने के लिए समस्त चर्यायें, खान पान, रीति, नीति, वेशभूषा, रहन सहन व घर बाहर, नगर गांव की समस्त विधा को, (२) शरीर अस्पताल के विकृत, रोगी हो जानेपर उस की मरम्मत, चिकित्साको । (३) मन आत्मा को तत्वज्ञान द्वारा काम क्रोधादि के आन्त विकारों से मुक्त करने की विद्याको ।

शरीर व मन के पूर्ण, विकसित तथा सशक्त हो जाने पर यदि वह विवेक की अपूर्णता के कारण मानसिक रोगों का आखेट बनने लगता था, तो उस के लिए परीक्षण विश्लेषण की व्यवस्था थी, जिसे वह गृहस्थ जीवन में कर्म द्वारा पूरी करता था, ताकि हठात् कामादि से आक्रांत होने की अपरिहार्य क्षति से प्रत्युपकार करता हुआ विवेक कर्म द्वारा रोग मुक्ति में सफल हो सके। इस प्रकार शिक्षण काल की व्याख्या, परिभाषा (Definition) के वास्तविक साक्षात् को वह गृहस्थ जीवन में परीक्षण, विश्लेषण, उपयोग (application) द्वारा प्राप्त करता था। किन्तु जब वह कामादि आवेशों से मुक्तसा हो जाता अर्थात् उस का शरीर कामोत्तेजना पूर्ति में असमर्थ हो जाता तथा उन हिंसा दौरों की पूर्ति से सन्तानोत्पत्ति प्रत्युपकार की क्षमता न रहती तब इन दोनों रोगियों (स्त्री पुरुषों) को आगन्तुक मानसिक रोगियों (बालकों) के हितार्थ गृहस्थ से उपराम होकर अपनी पूर्व व्याख्या, परिभाषा ज्ञान व उपयोग परीक्षण कर्म की भित्ति पर विचार (Thoughts) संकलित करने थे और इन विचारों के संकलित हो जाने पर व्यवस्था बनानी थी। मानसिक रोगियों के जीवन के ये ही चार प्रोग्राम थे।

हमारा मानव जीवन मानसिक रोग निवारण काल है। इस के लिए हम स्वयं साक्षी हैं कि हम रोगी हैं वा नहीं।

हमारे मनमें कामनाएं, लोभ, ममता, मोह, क्रोध क्यों उत्पन्न होते हैं? इन काम, लोभादि की पूर्ति न होने पर हमें दुःख क्यों होता है? प्रिय वस्तुके नाशसे, अहंकारमें व्याघात से तथा क्रोध में व्यथा क्यों होती है? इन प्रश्नों के "क्यों" का उत्तर प्रत्युत्तर ढूँढते ढूँढते हम एक ऐसे वैज्ञानिक अनुसंधान पर पहुंचेंगे, जहां हमें मानना पड़ेगा कि यह सब वास्तविकता न जानने के कारण होता है।

(क) एक मनुष्य अपना हाथ स्वयं काट डालता है और हंसता रहता है, जब कि दूसरा मनुष्य उस के हाथ को कटता देख कर मूर्च्छित हो जाता है। यह दो मनों का विलक्षण अन्तर क्यों?

(ख) एक शराब पीकर कंगाल होता हुआ भी अपने को धन-कुबेर समझता है। दूसरा शराब की दुर्गन्ध से दुःखी हो रहा है। तीसरा शराब न मिलने से अपने को अभागा कह कर रो रहा है। चौथा शराब के न होने पर प्रसन्न है, उसे शराब की तनिक भी चाह नहीं। यह अन्तर क्यों?

(ग) भिन्न भिन्न देशों के स्त्री पुरुष दूसरे देशों के वेश-भूषा, आभूषण व रीतिनीति से ममता क्यों नहीं करते?

(घ) जिन तत्वों, हाड मांस से एक सुन्दर युवती का शरीर बना है, उन्हीं तत्वों हाडमांस से एक कुरुपा वृद्धा का शरीर बना है, फिर एकमें राग, दूसरीमें विरक्ति क्यों?

(ङ) गेहूं, घी, नमक में पृथक् पृथक् रोचकता नहीं, किन्तु इन के मिश्रण से बने पकवान में ममता क्यों?

(च) स्वर्ण स्वतः व्यर्थसी वस्तु है, किन्तु पृथ्वी के समस्त मानवों में इसी के लिए उत्कट ममता क्यों?

(छ) यदि प्रसूता स्त्री के नवजात शिशु को पृथक् कर दिया जावे, तो कालान्तर में माता पुत्र में ममता क्यों नहीं?

(ज) अमुक व्यवहार को सम्मान तथा अमुक व्यवहार को अपमान क्यों माना जाता है?

इस प्रकारके प्रश्नोंके उत्तर की अन्तिम खोज हमें बताती है कि हम सचमुच इन पांच मानसिक हिंसाओं के वशीभूत होकर हिंसित होते रहते हैं और यह सब होता है रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द की रोचक, आकर्षक प्रतीति से, जितनी मौलिकता में लेश भी रोचकता व आकर्षण नहीं है।

शारीरिक रोगोंमें कोई कार्य वा वस्तु तभी कुपथ्य होती है जब वह रोगमें वृद्धिका कारण हो। यदि वे वस्तुएं कृत्रिम उपायों से अधिक चित्ताकर्षक व रोचक बना दी जाती हैं तो ये दुहरी कुपथ्य हो जाती हैं। दूध, घी अजीर्ण में

कुपथ्य हैं किन्तु दूध, घी से बने पदार्थ रबड़ी, खोआ, मिठाई आदि दूहरी कुपथ्य हैं। वे दूध, घी से अधिक दुर्जर हैं तथा अधिक रोचक होने के कारण रोगी को अधिक आकर्षित करती हैं।

यही अवस्था मानसिक रोगों की है। रूप की ओर मन में कामना होने से कामेच्छा होती है, किन्तु जब उसी रूप को कृत्रिम वेषभूषा के शृंगार से उत्कट कर दिया जाता है, तो मन की आसक्ति और बढ़ जाती है और कामेच्छा की हिंसा नग्न रूप में उतर आती है। इसलिये मानसिक रोगियों के लिये हमारे आविष्कार घोर कुपथ्य हैं। रोग-मुक्त पुरुषों के लिए ये कुपथ्य भले ही न हों।

हम शारीरिक रोगसे मुक्त तभी माने जाते हैं, जब कुपथ्य शरीरपोषक हो जावें। इसी प्रकार हम मानसिक रोगों से तभी मुक्त माने जा सकते हैं, जब उपयोग कर लेने पर भी रूप, रस, गन्धादि हमारे मन में ममता, वासना उत्पन्न न कर सकें। यह सम्भव हो सकता है, उन के विश्लेषण, अन्तिम रूप के साक्षात्कार से। संसार की वस्तुओं में हमारा प्रयोगाधिकार हो, ममता मोह नहीं। यही रोगनिवृत्ति का लक्षण है।

एक कर्मचारी दफ्तर की कुर्सी, मेज, कलम, दवात का उपयोग नित्य करता है। उन वस्तुओं में उसको प्रयोगाधिकार है, ममत्व नहीं। मेज, कुर्सी के टूट जानेपर उसे दुःख नहीं होता, किन्तु यदि उस के घर की मेज कुर्सी टूट जाती हैं, या चुरा ली जाती हैं, तो उसे दुःख होता है; क्योंकि उन में उस का ममत्व है। हम संसार की तमाम वस्तुओं में यही नियम पाते हैं। काम, लोभादि के होते ही ममता के अंकुर फूटने लगते हैं। अतः रूप, रस, गन्धादि में रोग नहीं है। रोग तो ममत्व में है, क्योंकि किसी भी वस्तु की मौलिक व कृत्रिम अवस्था में रूप, रस, गन्धादि की भूमिका होगी ही।

चतुर चिकित्सकोंने इस ममत्व से बचाने के लिए ही रोगियों के कल्याणार्थ यह व्यवस्था की थी कि सम्पत्ति का अधिकार किसी भी व्यक्ति को जीवन भर न दिया जावे। केवल जीवन की उस अवधि में वह इस का अधिकारी रहे, जिस अवधि में वह इस का निर्माण करता हो और वह भी अपने व दूसरों के उपयोगाधिकार के निमित्त, सब में सब के उपयोग के हित बाँट देने के लिए।

अधिकांश रोगियोंने रोगनिवृत्ति के स्थान में कुपथ्य को अपनाया और मानसिक विकार उग्रता को प्राप्त होने लगे। रूप, रस, गन्धादि में उन की कामना बढ़ने लगी और तज्जनित लोभ मोह के वशीभूत होकर वे इन के नये नये आविष्कार करने लगे। प्रिय रोचकता को अति रोचकता में रञ्जित किया जाने लगा। यह अतिरञ्जन भले ही कला की उच्च भूमिका रही हो, किन्तु रूप, रस, गन्धादिके वास्तविक रहस्य से अनभिज्ञ मानसिक रोगियों के लिए ये अत्यन्त चित्ताकर्षक आविष्कार घोर कुपथ्य ही सिद्ध हुए और हो रहे हैं। इसीलिए शिल्पियों की कला पर कड़ी दृष्टि रखना चतुर चिकित्सकों ने कल्याणप्रद समझा था।

अपनी आत्मा और मन को व्यथा, अशान्ति, चिन्तासे बचाने के लिए इन काम, क्रोध, लोभ, मोहादि मानसिक हिंसाओं से बचना जरूरी है।

काम।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श व शब्द से प्राप्त होनेवाले सुखों की इच्छा का नाम काम है। इसलिए मन को इन विषयों के चिन्तन से दूर रख कर ही इनकी व्यथा से बचा जा सकता है। हम जितना रूप-रस-गन्धादि का चिन्तन करेंगे, उतना ही हमारा मन इनकी वासना में डूबता जायगा। जिन वस्तुके रूप-रसादिसे हम अभिज्ञ ही नहीं, उसकी हमें प्रायः अभिलाषा ही नहीं होती। यों तो रसना (स्वाद) व रूप की वासना भी मनुष्य के मन को काफी बेकाबू कर देती है। संगीत भी मनुष्य को काफी मोहित करता है, किन्तु इन में स्पर्श अर्थात् रतिसुख की वासना सब से भयानक है। इस का चिन्तन मनुष्य को पागलसा बना देता है और वह इस के वशीभूत होकर अत्यन्त निन्दनीय कर्म करने पर उतारू हो जाता है। जिस हत्या की कल्पनासे भी मनुष्य कांपता है, उस हत्याकर्म को करने से भी वह इस कामोन्मादमें नहीं चूकता। इसलिए किसी भी विषय का चिन्तन व चिन्तन करते करते उसमें तल्लीन होना, अपने मन आत्मा को हिंसित कर व्यथाग्रस्त करना है। अतः रतिचिन्तन से तो सदा ही दूर रहना श्रेष्ठ है, क्योंकि यह सब से बड़ा कुपथ्य है। मातृत्व की भावना व

एकान्त का त्याग रति-कामना की अचूक औषधि है । स्त्रियों का सामीप्य रति-कामना में घोर कुपथ्य है । किसी भी स्त्री में मातृत्व की भावना प्रतिष्ठित करने व उसकी एकान्त उपस्थिति त्यागने से कामुकता दूर होती है, तथा साधु पुरुषों की संगति से मन कामुक दुश्चिन्तन से बचा रह सकता है। स्त्री पुरुष की समान वेशभूषा भी कामुकता को उत्तेजित नहीं करती ।

कामवासना मानसिक रोग है, किन्तु उस के प्रतिकूल नपुंसकता आरोग्यता नहीं कहला सकती, क्योंकि नपुंसकता शरीर का रोग है । भोजनादि में आसक्ति मन का रोग है, तो अजीर्ण मंदाग्नि शरीरके रोग। सौंदर्य व कुरूपता में राग द्वेष--मन के रोग हैं, तो अन्धता, दृष्टि की न्यूनता शरीर के रोग । इसी प्रकार गन्ध की आसक्ति मन का तथा पीनस शरीर का रोग है, बहरापन शरीर का, तो सगीत में मोह मन का रोग है । शरीर की ज्ञानेन्द्रियों के रुग्ण होने पर मन व्यथित होता है, क्योंकि शारीरिक रोग मानसिक रोगपूर्ति में बाधक, हिंसक हो जाते हैं। मन रोगों के अधीन होकर विकृत हो चुका है, वह व्यथित है । इस व्यथाधीनता में वह विकृत इच्छा को पूरा करना चाहता है, किन्तु शारीरिक रोग (नपुंसकता, बहरापन, अन्धता, त्वक्--शून्यता, अजीर्ण, मंदाग्नि तथा पीनसादि) उसे रस नहीं लेने देते । इसलिए मनको रोगमुक्त न करके, कुविचारों में सुविचारों का न बदलकर बलात् वा किन्हीं बाधाओं से उस की इच्छापूर्ति को रोक देना दुःखी मनको पुन. दुःखी करना है । तभी तो कहा गया है-

" मन न रंगाये, रंगाये जोगी कपरा । " मनसे विषयों की वासना को दूर न करके विषयों का रस लेने की माध्यम ज्ञानेन्द्रियों को रुग्ण, मूर्छित वा विकृत करना मन के प्रति बलात्कार है । इसी प्रकार यदि दुर्गुणों, कुविचारों को सद्गुण सुविचार मान कर कोई उन से ममता करता है, तो मन की भ्रांति को दूर किए बिना उसे बलात् अपने भ्रांत विश्वास के विपरीत चलाना या उस के भ्रांत विश्वास के आधार पर आचरण से वंचित करना, उसके साथ बलात्कार है। क्योंकि भ्रांत विश्वास के वशीभूत व्यक्ति अपनी भ्रांत इच्छापूर्ति से बलात् वंचित किया जाकर उस की पूर्ति के लिए छल कपट आदि की अनेक हिंसाएं करेगा। यदि कर्म से वैसा करने की सम्भावना न भी हुई, तो मन से वैसा अवश्य करेगा।

क्रोध ।

क्रोध के सम्बन्ध में हम आरम्भ में ही काफी लिख आये हैं । शीतल जल पीने व दूसरों को क्षमा कर देने से क्रोध शान्त हो जाता है । हमें अपने को सचेत व सतर्क रखने के लिये अपने मकान कमरे आदि में चेतावनी के लिये बडे बडे मोटो लगाने चाहिये, जिन पर लिखा हो-

' क्रोध करके आत्म हिंसा मत कर । '

' उसे क्षमाकर दे, वह तेरा भाई है । '

' क्रोध करके अपने शरीरको मत जला । '

दूसरे के क्रोध को शान्त करने के लिए विनय, शीलता और मौन अमोघ औषधि हैं । क्रोध और कटु वचन जिस के पास हैं, उसे शत्रुओं की क्या जरूरत ? ये दोनों जहां, जब जितने चाहें शत्रु बटोर सकते हैं ।

लोभ ।

लोभ को त्यागने के लिए हमें वस्तुओं की नश्वरता तथा उनके बाह्य रूपकी अस्थिरता पर मनन करना चाहिये। हमें चाहिये कि पराई वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छाके त्याग के साथ साथ हम अपनी वस्तुओं का लोभ भी न करें । केवल उपयोगाधिकार समझें । किसी वस्तु की रक्षा करनी चाहिये उसकी उपयोगिता के लिए, ममता के लिए नहीं । यदि हमारे यत्न करने पर भी वस्तु नष्ट हो जावे, तो हमें उसमें दु.ख नहीं मानना चाहिये । हमें वस्तुओं को उपयोग करना चाहिये, न कि वस्तु के उपयोग का व्यसनी बनना ।

मोह ।

सब कुछ परिवर्तनशील है और साथ ही नश्वर भी । आज नहीं तो कल सब ही चीजें, जिन पर हम मोहित हैं, नष्ट हो जायंगी या परिवर्तित होंगी । जिस गुण पर हम मोहित हैं वह गुण उस वस्तु में है ही नहीं । वह तो एक नैमित्तिक विकार है, बाहर से आया हुआ परिवर्तन है ।

मद ।

यही भाव मद व अहंकार के लिए दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये । हम हैं ही क्या जिसका हम अहंकार करें ? हम समर्थ हैं, किन्तु परमाणु-समूह के विकार, इस

जड़ शरीर के बिना हमारा सामर्थ्य कुछ भी नहीं है और वह जड़ शरीर खुद कुछ कर नहीं सकता । हमारे सामर्थ्य के सहयोग से जो कुछ करता है, वह भी अल्प काल के लिए । हमारा सामर्थ्य और जड़ शरीर की शक्ति भी कुछ काल व्यतीत होते ही सहयोग त्याग कर हमें सामर्थ्य और शक्तिहीन कर देते हैं, फिर अहंकार किस बात पर करें ?

अतः अपने सुख के लिए आत्महिंसा, इन मानसिक हिंसाओं से बचना जरूरी है । काम, क्रोध, लोभादि स्वयं भी एक दूसरे के विरोधी हैं । काम को क्रोध से वैर है और क्रोध को सब से । क्रोध तो बुरे भले सब का ही वैरी है । क्रोध की उपस्थिति में काम, लोभ तो क्या, मद अहंकार भी, जो इसके खास पोषक हैं, नौ दो ग्यारह हो जाते हैं । आत्मस्नेह भी आत्मग्लानि, आत्मघात में बदल जाता है । इसी कारण से दार्शनिकों ने क्रोध को मोह (अन्धता) उत्पन्न करनेवाला कहा है ।

मान, प्रतिष्ठा ।

किसी वस्तु की वास्तविक स्थिति को स्वीकार करना उस का मान करना है । किसी वस्तु के गुण को ठीक ठीक स्वीकार करना, उस का सम्मान है । किसी के गुणों को हीन समझना, उस का अपमान है । किसी के गुणों को अति मानना अभिमान है । जिस के लिए जो स्थान वा कार्य उपयुक्त है, उसे उस स्थान वा कार्य में नियुक्त करना प्रतिष्ठा है, तथा अनुपयुक्त स्थान में लगाना अप्रतिष्ठा ।

" दूध श्वेत, प्रवाही, मधुर तथा शरीरपोषक है । " ऐसा प्रकट करना, मानना दूध का मान है । " दूध से मनुष्यों को कोई लाभ नहीं, यों ही दूध को पोषक मान लिया है, " ऐसा प्रकट करना वा मानना दूध का अपमान है ।

" हिंग्वाष्टक चूर्णकी एक मात्राके सेवनसे मनुष्य हजार वर्ष जीता है और भूख प्यास नहीं सताती, " ऐसा प्रकट करना व मानना हिंग्वाष्टक का अभिमान है ।

गणित के विद्वान् को गणित के कार्य पर नियुक्त करना उस की प्रतिष्ठा है ।

मिठाई बनानेमें कुशल हलवाई को वीणा सितार बजाने के काम में लगाना उस की अप्रतिष्ठा है ।

सत्य, उचित अच्छे कर्म को सत्कार कहते हैं । यदि कोई आलसी, मनुष्य परिश्रम न करने के कारण रोगी हो गया है, तो उसे परिश्रम के कार्य में लगाना उस आलसी, रोगी का सत्कार करना है, तथा किसी को कुपथ में ले जाना असत्कार है ।

मान, सम्मान, अपमान, अभिमान, प्रतिष्ठा, अप्रतिष्ठा, सत्कार तथा असत्कार शब्दों के वास्तविक अर्थ व भूमिकाएं तो ये हैं, किन्तु सत्ताधारी राजनैतिक रोगियोंने अहंकार व मद रोगों के वशीभूत होकर इन शब्दों को भ्रांत व मिथ्या भावों में लाकर रूढ कर दिया है, जिसके परिणाम स्वरूप अहंकार-रोगग्रस्त मानवों में एक "लोकेषणा" नाम की थोथी कल्पित " व्याधि " लग गई है । इस व्याधि से मानवसमाज को मुक्त रखने वा करने के लिए विवेकशील चिकित्सकोंने मानसिक-रोग-चिकित्सा विधानों में पथ्य निश्चित किये कि कल्याण, सुख, शांति चाहनेवाले व्यक्ति मान को विष और अपमान को अमृत समझें । किन्तु ज्ञानी चिकित्सकों से अज्ञानी रोगियों की संख्या सदैव ही अधिक रही है । दुर्भाग्यवश इन रोगियोंने रोगोग्रस्त (क्रोधादि से आक्रांत होकर) कुपथ्य को उत्तेजित करनेवाली वस्तुओं (पशुबल, संघशक्ति, सम्पत्ति, अधिकार) को प्राप्त कर लिया, जिन के परिणामस्वरूप इन के रोग के आवेशोंने जो चाहा इन से कराया और ये काम क्रोधादि से आक्रांत तथा शक्तिबल में अजेय होकर खुले हाथों कुपथ्य करते कराते रहे ।

प्रेम, हार्दिक स्नेह व हित का प्रदर्शन ही शिष्टाचार (उपयुक्त व्यवहार) था, किन्तु मद अहंकार-ग्रस्त रोगियोंने शक्तिबल के आधार पर अहंकार, मदपूर्ति के लिए लोकेषणा वश अपनी पूजा को मान, प्रतिष्ठा, सत्कार आदि शब्दों से उद्घोषित किया और पूजा की अनेक सरल व जटिल पद्धतियां नियमावलियाँसी बना डालीं, जिन की पूर्ति की त्रुटिको अपमान, अप्रतिष्ठा, असत्कार घोषित कर मानवों में जहां कल्पित दुःख की भावना उत्पन्न कर दी, वहां इन विधानों का यथावत् आचरण करने में असफल वा अनभिज्ञों को असभ्य, अशिष्ट आदि कहकर अनेक प्रकार के मृदु कटु दण्ड भी निश्चित किये । ये सब व्यापार अस्तित्वविहीन एक कल्पित भावना के लिए ये और जो आज इतनी बढ़ा दी गई है कि वह " लोकेषणा " ऊंचे से ऊंचे सन्तों के लिए भी अजेय होकर व्याधि बनी

हुई है। मान प्रतिष्ठा के ये आविष्कार गुरु-शिष्यों, सन्त-भक्तोंद्वारा नहीं किये गये थे, उनमें तो केवल भक्ति व प्रेम ही माध्यम था। इन का आविष्कार राजनैतिक क्षेत्रों में हुआ और इन्हें राजदर्बारों से लेकर सन्तों की कुटियों तक पहुंचाया गया।

इस लोकेषणा का उद्गम हम केवल दो भावनाओं में पाते हैं-

(१) कामना और लोभ के वशीभूत होकर जब हम स्वार्थवश किसी वस्तु को किसी व्यक्ति से उसकी सहर्ष सहमतिसे प्राप्त करना चाहते हैं, तो उस व्यक्तिके प्रति हम जो व्यवहार प्रदर्शित करते हैं, उसको आदर कहा जाता है।

(२) क्रोध और स्वार्थ के वशीभूत होकर हम जब किसी के प्रति रोष व क्रूर व्यवहार प्रकट करते हैं, किसी से स्वार्थसिद्धि न हो सकने के कारण उसकी उपेक्षा करते हैं, या उसको उसकी वास्तविक स्थितिसे न्यून समझ कर उपेक्षा करते हैं, तो वह व्यवहार अनादर कहलाता है।

राग आदर का और द्वेष अनादर का उद्गम है।

किन्तु स्नेह, प्रेम, आत्मीयता जहां होती है, वह हित-भाव ही सबसे ऊंचा व नैसर्गिक है और यह आदर, अनादर दोनों व्याधियों से मुक्त है। माता-शिशु का सम्बन्ध इस का प्रत्यक्ष उदाहरण है, जिस में आदर अनादर के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

मद और अहंकार इसी लोकेषणा के सापेक्षी हैं। मद तथा अहंकार लोकेषणा को चाहते हैं और लोकेषणा मद तथा अहंकार को उत्पन्न करती है।

पागल अपने को पागल नहीं समझता, बल्के दूसरों को पागल समझा करता है। उस की यह भ्रान्त भावना भी तो पागलपन है। अहंकार और मद के वशीभूत होकर हम भी अपने को दूसरों से अधिक बुद्धिमान् व चतुर समझते हैं। यह लोकोक्ति विख्यात है कि अपनी बुद्धि सब को बडी प्रतीत होती है। किन्तु एक लम्बी अवधि से मानसिक रोगियों के भ्रान्त प्रचारने मानवों में रोग को स्वास्थ्य प्रसिद्ध कर दिया है। जीवन-संग्राम के लिए न्यूनाधिक मात्रा में क्रोध को हम उपयोगी मानने लग गये हैं। शारीरिक रोगों में हम रोग के प्रकोप को अनुभव करते ही अपने को रोगी मानकर चिकित्सा में जुट जाते हैं, किन्तु मानसिक रोगों को प्रायः रोग मानते ही नहीं और यदि मान भी लेते हैं, तो उन्हें भयानक न मानकर प्रायः चिकित्सा की आवश्यकता ही नहीं समझते, क्योंकि हम में आत्मा, मन के स्वास्थ्य की अपेक्षा शरीर के स्वास्थ्य की की ममता अधिक है। अस्पताल के मालिक को रोगियों के स्वास्थ्य की अपेक्षा इमारत की दुरुस्ती की अधिक चिन्ता है। जब हम को धन की ममता घेर लेती है, तब हम कलकत्ता प्रभृति नगरों में जाकर धन बटोरने के लिए शरीर के स्वास्थ्य की भी परवा न कर के धन-संचय में लग जाते हैं। अतः रोगी होते हुए अपने को रोगी न मानना भी एक रोग ही है, जिस का आधार मोह, मद, अहंकार हैं।

‘ देवकामा ’ पर सम्मति।

श्रद्धेय पंडितजी। जगदीशपुर-गगहा (जि० गोरखपुर) आश्विन कृष्ण १३ सं० २००० विक्रमीय।

प्रणाम ! निःसंदेह आप का कार्य पवित्र, श्लाघ्य एवं स्तुत्य है। परमेश्वर आप जैसे महात्माओं को यदि अधिक मात्रा में उत्पन्न करें, तो अवश्य वैदिक धर्म की विजयवैजयन्ती का विश्व में अचिरात् प्रसार हो सकता है। आप का भेजा हुआ ‘ देवकामा ’ वाला लेख पढा, तथा अपने इष्ट मित्रों को भी पढने को दिया। बहुमत आपकी ही ओर है। किसी को भी विवाह-काल में ‘ देवकामा ’ पढने की इच्छा नहीं होती। मुझे भी यही उचित जंचता है। आपने इसे प्रकाशित कर समाज को अन्धकार की गर्त से बाहर किया है। एतदर्थ संपूर्ण समाज आप का कृतज्ञ रहेगा।

मेरे यहां न्यूनातिन्यून वेदोंकी दस प्रतियां चाहिये। वेदोंके ग्राहक हो गये हैं। भवदीय- विन्ध्याचल शर्मा।

पातञ्जल-योगानुशासनं नाम शास्त्रम् ।

तस्य सरलभाषायां काव्यमयी टीका ।

(कवि- प्रो० रलियाराम कश्यप, एम्. एस्सी.)

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥१॥
परिश्रमी जीवन पुनः, आत्मानन्द सुध्यान ।
कर्मयोग शुभ जानिये, तीजा प्रभुप्रणिधान ॥ १ ॥

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥
क्लेश जायं हो सूक्ष्म तब, होय समाधिः सिद्ध ।
कर्मयोग आचरणसे, सदा भावना सिद्ध ॥ २ ॥

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः॥३
क्लेश जानिये पांच ही, अज्ञान अहंकार ।
प्रेम वैर अरु मृत्युभय, जिन बांधा संसार ॥ ३ ॥

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्नो-दाराणाम् ॥ ४ ॥
पिछले सब का खेत इक अज्ञान पहिचान ।
सत्तारूप, सुसूक्ष्म पुनः, डूबे, प्रकट का प्राण ॥ ४ ॥

अनित्याशुचि-दुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखा-त्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥
अज्ञान है समझना, क्षणभङ्गुर को नित्य ।
अपवित्र को शुद्ध शुभ, दुःखमय को शुभ सत्य ॥ ५ ॥
जड को चेतन मानना, अनात्म को आत्म ।
ऐसा उलटा ज्ञान ही, बन्धमूल दुर्‌आत्म ॥ ६ ॥

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता ॥ ६ ॥
देखनहारे पुरुष अरु, दर्शन साधन बुद्ध ।
का हो जाना रूप इक्, अहंकार सोइ सिद्ध ॥ ७ ॥

सुखानुशायी रागः ॥७॥ दुःखानुशायी द्वेषः ॥ ८ ॥
सुख पाया हुआ प्रेम तब, वही कहा अनुराग ।
दुःख पाया हुआ वैर पुनः, द्वेष वही दुर्भाग ॥ ८ ॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ९
स्वरसवाही विदुषोऽपि तन्वनुबन्धोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥ ×
अपने ही में वासना, उसी से निकसे जौन ।
सम विद्वान् व मूढ में, उस से छूटा कौन ॥ ९ ॥
अभिनिवेश वही क्लेश है, सब में सिद्ध समान ।
ब्रह्मा अथवा क्रिमिः को, दुःख उस से न महान् ॥१०॥

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥
उत्पत्तिः की उलट से, क्लेशबीज हो नाश ।
चित्त झुका अस्मिता में, सूक्ष्म क्लेश करे नाश ॥११॥
उत्पत्तिः से पूर्व ही, करिये क्लेश-विनाश ।
अभी सूक्ष्म ही हों जभी, करिये जडसे नाश ॥१२॥

ध्यानहेयास्तद्‌वृत्तय : ॥ ११ ॥
एकाग्रता ध्यान से करो, नष्ट वही स्थूल ।
क्लेशवृत्तियां चित्त की, चित्त बने सुखमूल ॥१३॥
व्यापार तिन नाशिये, ध्यान धार इक तार ।
स्थूल सूक्ष्म सभी नष्ट हों, वृत्तिः अरु संस्कार ॥१४॥

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥१२॥
यही क्लेश कारण बनें, सकल कर्म तिन कार्य ।
कर्मवासना भोगिये, इस उस जन्म अनिवार्य ॥१५॥
इसी जन्म अरु भविष्यत्, में हो प्राप्त फल कर्म ।
क्लेश हों जिनके मूल, योगी करे न वह कर्म ॥१६॥

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥
यावत् मूल कटे नहीं, फल हो प्राप्त अवश्य ।
जन्म हो, आयुः भोगिये, सुख दुःख पाइये अवश्य ॥१७
क्लेशाबिन्धे दें कर्मफल, जन्म अरु आयु विशेष ।
भोग दुःख अरु सुखमय, कृष्ण शुक्ल सुविशेष ॥१८॥

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥१४॥
कर्म अपुण्य का दुःख फल, पुण्य कर्म का सुख ।
धर्माऽधर्म के कारणों, आनन्द वा दुख ॥ १९ ॥
अच्छे अरु बुरे कारणों, सुख दुःख फल वे दें ।
क्लेशयुक्त सभी कर्मही, योगी उन्हें न लें ॥ २० ॥

परिणामताप-संस्कार-दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

× (भोजवृत्त्यां मूले सूत्रपाठः)

पर ज्ञानी को सभी फल, हो दुखमय प्रतीत।
कारण सुखका अन्त है, सुखमें भी दुख प्रतीत ॥२१॥
किस विध सुख स्थायी रहे, यह चिन्ता दुख दे।
पिछले दुःखों की स्मृति, भी सदैव दुःख दे ॥ २२ ॥
वस्तुओं के गुण बदलते, निज मन भी रहा बदल।
अतः वही वस्तु, उसी मन को करे विकल ॥ २३ ॥

हेयं दुःखमनागतम् ॥१६॥
द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

त्याज्य दुःख तो वही है, जो नहीं पहुंचा आन।
जीव प्रकृतिः संग ही, तत्कारण पहिचान ॥ २४ ॥

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥१८॥ विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

सत्त्व रजो अरु तमोगुण, मय तत्त्व इंद्रिय रूप।
प्रकृति है लिये जीवके, मोक्ष अरु भोगस्वरूप ॥ २५ ॥
दृश्य हैं प्रकृति गुणमयी, सुमहान् अहंकार।
तत्त्व सूक्ष्म अरु स्थूल भी, पंच इंद्रिय सुखकार ॥ २६ ॥
पांच इंद्रियां ज्ञान की, तथा ग्यारहवां मन।
लिगाऽलिग विशेष अरु, अविशेष साधन ॥ २७ ॥

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

द्रष्टा जीव है देखने, की ही शक्ति रूप।
निर्गुण होता स्वयं तो, देख चित्तस्वरूप ॥ २८ ॥
यदि विरक्त हो चित्त से, तब देख निज रूप।
आत्मा में ही मस्त हो, सर्वात्म इक रूप ॥ २९ ॥

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

उसी के भोग अरु मोक्ष के, निमित्त संसार।
सकल दृश्य सत्ता उसी, परक, उसी आधार ॥ ३० ॥

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

जिसने साधे अर्थ दे, उस के लिये ही नष्ट।
पर अन्यों के लिये फिर, भी न जग हो नष्ट ॥ ३१ ॥
यही जगत् सब के लिये, है सांझा अतः सो।
नष्ट मुक्त के लिये हो, अन्यार्थ नहीं हो ॥ ३२ ॥

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः२३

मालिक अरु तिस माल के, भेद प्राप्ति का हेत।
है इन दो का संग ही, जो क्षेत्रज्ञ अरु खेत ॥ ३३ ॥

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥ तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

कारण उस संयोग का, अज्ञान पहिचान।
यद् अभाव से जाय हो, तुरत संग का हान ॥ ३४ ॥
संयोग का टूटना ही, दृष्टृ कैवल्य।
यही सर्वदुख हान है, यही जन्म-साफल्य ॥ ३५ ॥

विवेक-ख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

उत्तम साधन हान इस, का है विवेचक ज्ञान।
सदा रहे जो एक सा, रोक सदा अज्ञान ॥ ३६ ॥

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

सात अवस्था ज्ञान की, हैं सर्वोत्तम सर्व।
प्रज्ञा अंतिम् सभी में, आनन्ददायक सर्व ॥ ३७ ॥
प्रकृति दुःख का हेतु है, लिया जान दिया त्याग।
संग उसी से सर्वथा, आत्मा भरा वैराग ॥ ३८ ॥
सदा विवेक ही स्थिर रहे, मन से रहा न अर्थ।
मन लय हो जाय तुरत् तब, आत्मा हुआ तटस्थ ॥ ३९ ॥
तभी मुक्त हो आत्मा, कृतकृत्य महाभाग।
सदा विवेक स्थित रहे, पास न फटके राग ॥ ४० ॥

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

आत्मविवेचक ज्ञान तक, हो ज्ञानाग्निः प्रचण्ड।
मल सब नष्ट अरु आवरण, यदि योगांग प्रचण्ड ॥४१॥

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

योग अंग हैं आठ ही, समाधि धारणा ध्यान।
प्रत्याहार अरु यम नियम, आसन रखना प्राण ॥ ४२ ॥

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥३०॥

दुःख देना नहीं किसी को, झूठ कभी नहीं बोल।
चोरी त्यजना सर्वथा, त्यजना विषय, अडोल ॥ ४३ ॥
रहना, त्यज कर लोभ अरु, आसक्ति, सम्पूर्ण।
चित्त फंसा न हो कहीं भी, वही यमी सम्पूर्ण ॥ ४४ ॥

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

सभी दशाओं में सदा, सभी स्थान इक रूप।
सभी प्राणि से सब समय, रहना यमी स्वरूप ॥ ४५ ॥

तभी महाव्रती हो सके, सार्वभौम यह आत्म ।
चित्त की भूमिः सभी में, योगी बना शुभ आत्म ॥४६॥

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

शुद्धिः तृप्तिः पाठ अरु, निज आत्मा का ध्यान ।
करना रहवे तपस्वि, प्रभु पर ही प्रणिधान ॥ ४७ ॥
सदा उसी के भरोसे, आश्रय उसका ले ।
नियमवान् योगी यतिः, उसे ही अपना ले ॥ ४८ ॥

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥
वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

अडचन रखने दूर हों, तो सोचो प्रतिपक्ष ।
हिंसा आदिक् दुःख दें, यही मुख्य प्रतिपक्ष ॥ ४९ ॥
किये कराये सराहे, अल्प मध्य अत्यधिक ।
अज्ञान से क्रोध में, चाहे लोभ ही अधिक ॥ ५० ॥
दें अनन्त दुःख अविद्या, सि कर दें भरपूर ।
अतः सभी ये त्याज्य हैं, रहिये इन से दूर ॥ ५१ ॥

अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

जिस से दुखाना छुट गया, सदा सभी का चित्त ।
वैर त्याग दें पास उस, आकर बने मित्त ॥ ५२ ॥
बुद्ध अहिंसक, जिन प्रभू महावीरवत् सिद्ध ।
गांधीवत् हो सर्वथा, जिस की अहिंसा सिद्ध ॥ ५३ ॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥३६॥ (वाचि)

सदा जो बोले सत्य ही, ज्यों राजा हरिचन्द ।
वाणी उस की सफल हो, हुई सदा सुखकन्द ॥ ५४ ॥

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

सभी रत्न जायं मिल उसे, चोरी दी जिस त्याग ।
टिका जो है अस्तेय में, वही कुबेर महाभाग ॥ ५५ ॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

भीष्म अरु शंकरवत् करें, अनन्त शक्तिः लाभ ।
ब्रह्मचारि दयानन्दवत्, बने जो ही महाभाग ॥ ५६ ॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः ॥ ३९ ॥

सब विषयों से जो रहे, बना सदा उपराम ।
अगले पिछले जन्म की, कथा जनावे राम ॥ ५७ ॥
जो न फंसे आसक्त भी, जावे ही न कदैव ।
आवागमन सुज्ञान शुभ, वह ही पावे सदैव ॥ ५८ ॥

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सापरैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

अपने अङ्गों से उसे, सदा ग्लानि आय ।
अन्य किसी से नहीं मिले, वही महात्म कहाय ॥ ५९ ॥
शौच जिसे गया सिद्ध हो, वह रहे सदा पवित्र ।
साफ अरु सुथरा सर्वतः, बना ईश का मित्र ॥ ६० ॥

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

पवित्र शुद्ध हो मन सुखी, चित्त हुआ एकाग्र ।
वश में हो सभी इन्द्रियां, देखें आत्मा कुशाग्र ॥ ६१ ॥
शौच सिद्ध सुमहात्मा, इस सब के हुआ योग्य ।
सारा विश्व ही जानिये, एक उसी का भोग्य ॥ ६२ ॥

संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

भूख न व्यापे कभी जिसे, सदा ही जो सन्तुष्ट ।
सर्वोत्तम सुख पाय रह, सदा हृष्ट रह पुष्ट ॥ ६३ ॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

मल अपवित्र के नाश से, तप के फल प्रताप ।
देह अरु इंद्रिय सिद्ध हों, बनीं प्रबल निष्पाप ॥ ६४ ॥

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥ ४४ ॥

आत्मा करे जिस साध्य वा, ऋषिः देव का ध्यान ।
यही इष्ट मिल जाय यदि, हो स्वाध्यायप्रधान ॥ ६५ ॥
निज आत्मा परमात्मा, के भी दर्शन हों ।
स्वाध्यायी जन को स्वयं, वे यदि योगी हों ॥ ६६ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

भक्तिविशेष से ईश का, यदि आवाहन हो ।
तुरत समाधि जाय लग, ईशकृपा तभी हो ॥ ६७ ॥

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

जिस में बैठा टिक रहे, निश्चल अंग अडोल ।
सुख से समाधि कर सके, आसन वही अनमोल ॥ ६८ ॥

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

हो प्राप्ति सुअनन्त की, बिना यत्न जाय लग । (आसन)
तब आसनजित् जानिये, रहने लगे अलग ॥ ६९ ॥

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

गर्मीसर्दी, दुःखसुख, अरु मान अपमान ।
से तब विचलित होय न, आसनजित् सुमहान् ॥ ७० ॥

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

आसन ही फिर काटिये, आता जाता सांस ।
प्राणायाम उपासिये, रोक सांस परसांस ॥ ७१ ॥

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

बाहर फेंको, खींच लो, अन्दर रोको भी ।
बाहर भीतर, जहां तहां, बनते प्राणवशी ॥७२॥
विविधदेश में प्रणव जप, गिनती से मापो काल ।
सांस करो बारीक पर, लम्बा बनो अकाल ॥ ७३ ॥

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

स्तम्भवृत्ति अरु बाह्य करो, आभ्यन्तर चित्त लाय ।
चौथा चोटे सभीपर, परम यही सूपाय ॥ ७४ ॥
वश करने का प्राण के, बाह्य को भी यही रोक ।
आभ्यन्तर को भी पुनः, देता है यही टोक ॥ ७५ ॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

रज तम ढक्कन बुद्धि के, तब हो जायें क्षीण ।
मन हो जावे धारणा, लगने में परवीण ॥ ७६ ॥

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

विचरें न निज विषय में, हों मन के अनुकूल ।
चित्त स्वरूप अनुकूल ही, इंद्रियन प्रतिकूल ॥ ७७ ॥
प्रत्याहार यही कहा, रहें इंद्रिय निराहार ।
तब वश में हो सर्वथा, इंद्रिय बन सुखसार ॥ ७८ ॥

इति द्वितीयः साधनपादः ॥

अथ तृतीयः विभूतिपादः ।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

धारणा जानो चित्त का, बन्ध जाना इक स्थान ।
वहीं भाव इक ही बना, रहना कहा सुध्यान ॥ १ ॥

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ३

भासे जब इक अर्थ ही, उसे समाधिः जान ।
स्व पने के भान से, भी जो रहित सुध्यान ॥ २ ॥

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

ध्यान धारणा समाधिः, जब होवें एकत्र ।
तीनों ही इक स्थान पर, वह संयम सुपवित्र ॥ ३ ॥

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

संयम जब लिया जीत हो, तब चमके बुद्ध ज्ञान ।
उसे बरतिये भिन्न भिन्न, विषयन में अरु स्थान ॥४॥

त्रयमन्तरङ्गंपूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

प्रथम पञ्च की अपेक्षा, ये त्रय जानो निकट ।
यह त्रय भी बनें बाह्य ही, यदि निर्बीज हो प्रकट ॥ ५ ॥

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

चित्त उठना तब जाय दब, हो रुकाव उत्पन्न ।
पूर्ववासना जाय दब, पिछली हो उत्पन्न ॥ ६ ॥
यूं परिणत् हो जाय चित्त, रुकाव–प्रवृत्त ।
तत्क्षण ही जब रोकिये, जोड योग में चित्त ॥ ७ ॥

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

नि-रोध संस्कार से, चित्त बहे शुभ शान्त ।
समाधि हो एकाग्रता, उदय, भाव सभी शान्त ॥ ८ ॥
जाने से बहु विषय में, इक दम हट जाय चित्त ।
बदल गया सुसमाधि से, हुआ एकाग्र चित्त ॥ ९ ॥

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

एकाग्रता से पुनः, जाय बदल यूं चित्त ।
एक विषय के भाव ही, दबें, हों फिर प्रवृत्त ॥ १० ॥

धर्मलक्षणावस्थापरिणामाः व्याख्याताः ॥१३॥

यूं ही वर्णित् हो गये, भूतेन्द्रिय परिणाम ।
दशा, स्वभाव अरु समय से, सम्बद्ध परिणाम ॥ ११ ॥
इन्द्रिय भी एकाग्र अरु, प्रशान्त हो जायं ।
ज्ञान उन के जैसे दबें, तैसे प्रकट हो जायं ॥१२॥
जाय बदल देहधारी का, भी इस विध ही स्वभाव ।
अतः देह के भूत भी, बदलें त्यों निज भाव ॥ १३ ॥

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥१४॥

धर्मी द्रव्य तो वही रहे, हो धर्म परिणाम ।
भूत भविष्यत् काल इस, सब में धर्मी समान ॥१४॥

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

कालाक्रम के कारणों, ही धर्मी परिणाम ।
पावे अवस्था लक्षणा, पुनः धर्म-परिणाम ॥१५॥

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

संयम त्रय परिणाम में, त्रय द्रव्य, त्रय काल ।
ज्ञान करावे भविष्यत्, भूत का भी, सभी काल ॥१६॥

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

ज्ञान, द्रव्य अरु ध्वनि, हैं मिले जुले सर्वत्र ।
आश्रित हो इक दूसरे, के ही दिखें सर्वत्र ॥१७॥
उन्हें पृथक् यदि कर सको, संयम कर तत्काल ।
सभी प्राणियों के वचन, समझोगे तत्काल ॥१८॥

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

विवेचना निज चित्त के, सं-स्कारों की साथ ।
पूर्व जन्म का ज्ञान तब, पाईये आप अगाध ॥१९॥
अन्यों के संस्कार भी, कर यूं ही साक्षात् ।
जन्म उन का भी पूर्वला, हो जाय हमें सुज्ञात ॥२०॥

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

ध्यान जमाओ बात यदि, करके किसी की श्रवण ।
चित्त उस का पहिचान ही, लोगे बिना प्रयत्न ॥२१॥

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥२०॥

पर उस चित्त में विषय क्या, यह जाना नहीं जाय ।
उस आलम्बन परक जब, संयम किया न जाय ॥२२॥

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः प्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ २१ ॥

संयम देहाकार पर, दृश्य शक्ति को रोक ।
आंख रोशनी संग त्यज, छुप जाय हुआ अलोक ॥२३॥
दिख न सके तब अन्य को, हो जाय अन्तर्धान ।
संयम कर देह रूप पर, सिद्ध बना सुमहान् ॥२४॥

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

कर्म जो देने फल लगे, जिस में फल लगे देर ।
उन में संयम यदि करो, मृत्यु ज्ञान बिना देर ॥२५॥
पा लोगे अथवा किन्हीं, मृत्युः चिह्नों से ।
अरिष्ट-लक्षण जो कहे, उन प्रमाणों से ॥२६॥

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

संयम जब करो सख्य पर, बल पाओ अत्यन्त ।
करुणा मुदिता उपेक्षा, ऐसे ही बल दें अनन्त ॥२७॥

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

बलों में हाथी समान बल, कर संयम लो पाय ।
दिव्य अलौकिक आत्मबल, सूरज बल भी पाय ॥२८॥

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

ज्योतिष्छटा प्रवृत्ति की, डाल किसी भी पर ।
दूर सूक्ष्म अरु गुप्त भी, जाओ जान सुखकर ॥२९॥

भुवन ज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥

सूर्य ध्यान से जाय मिल, सौरचक्र विज्ञान ।
उस पथ पर आरूढ हो, लेपा भुवन ज्ञान ॥३०॥

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

नक्षत्र अरु राशिमय, ताराव्यूह विज्ञान ।
पा सके योगी चन्द्र पर, करे यदा सुध्यान ॥३१॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

ध्रुव तारे पर जब करें, संयम योगी सुजान ।
उस निश्चल की गति निरख, होवें महिमावान् ॥३२॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

नाभि. नीचे नसों का, केन्द्र कहा जो चक्र ।
उस से कर आरम्भ हम, पाय जान देह चक्र ॥३३॥
देह रचना का ज्ञान सब, मिले सहज ही में ।
योगी यदि चाहे करे, संयम उस ही में ॥३४॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

भूखप्यास हों दूर अरु, रहें तभी तक दूर ।
कुएं में जब गले के, हो संयम भरपूर ॥३५॥
जिह्वा उलटो आपनी, दो तालु में लगाय ।
तभी हो संयम सिद्ध यह, कहा यही समझाय ॥३६॥

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

स्थिरता पाइये ध्यान कर, सुषुम्ना नदिका ।
कूर्म नाडी जो पीठ में, संयम वहीं अटका ॥३७॥

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

ब्रह्मरन्ध्र अथवा त्रिकुटि, में संयम शुभ धार ।
दर्शन पाईये सिद्ध ऋषि, देव का, वा अवतार ॥३८॥

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

अथवा प्रतिभा उदय जब, हो जाय तब सर्वज्ञ ।
तर जाय भव सागर, उदय, जब तारक सर्वज्ञ ॥३९॥

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

संयम कर के हृदय में, पाओ चित्तविज्ञान ।
पुरुष चित्त से फिर दिखे, भिन्न ही केवल ज्ञान ॥४०॥

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥३५॥

अत्यन्त ही पृथक् हैं, बुद्धि अरु जीवात्म ।
उन्हें भिन्न नहीं समझकर, सब भोगे जीवात्म ॥४१॥
बुद्धि भोग भुगा रही, मुझी द्वितीय निमित्त ।
संयम कर इसी भाव में, पाओ पुरुष संवित्त ॥४२॥
जीवात्मा के ज्ञान का, यही जान सूपाय ।
आत्म ज्ञान के ही लिये, बुद्धि भोग भुगाय ॥४३॥

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

भीतर की तब जग पडे, दिव्य शक्तियां सर्व ।
श्रवण स्पर्श रस गन्ध अरु, दर्शन की भी सर्व ॥४४॥

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

यही विघ्न बन जायं सब, ध्यान समाधि काल ।
यही सिद्धियां गयी कही, उडा चित्त जिस काल ॥४५॥

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

है जिस कारण चित्त बन्धा, निजी देह के साथ ।
यदि वह ढीला जाय हो, छुटे चित्त तिस साथ ॥४६॥
अन्य देह में जाय तब, जाने की विधि जान ।
पर शरीर आवेश यह, चित्त का लो पहिचान ॥४७॥

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥३९॥

श्वास जो ऊपर को चढे, उसे जीत निष्पाप ।
पानी, कीचड में चलो, कांटों में, भी आप ॥४८॥
बिना घात के सर्वथा, उडते ही ज्यो जात ।
भिगे बिना, लिपटे बिना, बिना किसी आघात ॥४९॥

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

श्वास जो रखती सम सदा, देह धातुएं सर्व ।
उसे जीत योगी दिखे, ज्वालामय ही सर्व ॥५०॥
ब्रह्मतेज से प्रज्वलित, तेजस्वी सुमहान् ।
योगी तब दिखने लगे, सूर्य सहस्र समान ॥५१॥

श्रोत्राकाशयोः सम्बधसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥४१॥

शब्द सदा आकाश में, ग्रहण करे उसे कान ।
सम्बन्ध जो परस्पर, लिया उसे पहिचान ॥५२॥
संयम धारा उसी में, कान बने तब दिव्य ।
दूर की बाते तब सुने, धीमी भी, हुआ दिव्य ॥५३॥

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्ते-श्चाकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

देह रहे सदा आकाश मे, उन का जो सम्बन्ध ।
उस में संयम धार ले, गति हो तब स्वच्छन्द ॥५४॥
आकाश मे मनुज की, रुई समान करे चित्त ।
यदि वह हलका सर्वथा, लघुत्वमय किया चित्त ॥५५॥
अपने को हलका बहुत, यदि लो मन में धार ।
सीमा देहाकाशकी, पर फिर करो विचार ॥५६॥
हवा मे उडते जाओगे. तब पक्षियोंसमान ।
सिद्धिः यह सुविचित्र ही, शुभ आकाश प्रयाण ॥५७॥

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशा-वरणक्षयः ॥ ४३ ॥

स्वत. ही बाहर ओर जब, प्रभु की, निज चित्त जाय ।
देह भान त्यज सर्वथा, तब मोह ममता जाय ॥५८॥
ज्ञान प्रकाशित हो तभी, अज्ञान जब दूर ।
महाविदेहावृत्ति. यह, आनन्द भरपूर ॥५९॥

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥४४॥

स्थूल भूत, अदृश्य पुन., उन सबके निजी धर्म ।
सूक्ष्म भूत अरु गुणत्रयी, अर्थवत्त्व सद्धर्म ॥६०॥
प्रकृति अरु सभी विकृतीः, हैं सभी जीव निमित्त ।
उस के भोग अरु मोक्ष के, ही कारण प्रवृत्त ॥६१॥
इस विध वृत्तिःमय हुआ, चित्त ले संयम धार ।
भूत हों इस के वश सभी, तत्त्व बने सुखसार ॥६२॥

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

अणिमा आदिक् सिद्धियां, प्रकट स्वयं तब हों ।
देह होवे सुविचित्र शुभ, भूत विघ्न कब हों ॥६३॥
यत्र कामावसायित्व, ईशितृत्व, प्राप्ति च ।
अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राकाम्य, वशित्व च ॥६४॥
सूक्ष्म, स्थूल, हलका, पुनः, भारी मन अनुकूल ।
हो सके, कर सके प्राप्त सब, निज इच्छा अनुकूल ॥६५॥
सब को वश कर अधिपतिः, उन सब का ही हो ।
चाहे जहां विचरे सदा, बाधा कहीं न हो ॥६६॥

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत् ॥४६

सुन्दर तेजस्वी बली, वज्र समान कठोर ।
अति रमणीय ही देह हो, संपत सिद्ध अघोर ॥६७॥

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

इंद्रिय का जो कर्म है, तथा निजी तिम रूप ।
तिन कारण अहंकार पुनः, प्रकृतिः वा गुण रूप ॥६८॥
ये सब मोक्ष अरु भोग के, हैं जीव के अर्थ ।
भाव इसी पर चित्त टिका, जीते इन्द्रिय यथार्थ ॥६९॥

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ४८

तब इंद्रिय के बिना भी, मन से होवे कर्म ।
अति वेग से युत हुई, मनवत् इंद्रिय कर्म ॥७०॥
करें स्वयं भी, जीत ले, योगी तब प्रधान ।
प्रकृति को भी सर्वथा, सिद्ध बना सुमहान ॥७१॥

सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

बुद्धि अरु जीवात्मा, की झांकी यदि हो ।
स्पष्टतया सुपृथक् ही, आनन्द तब हो ॥७२॥
सब भूतों अरु प्राणियों, पर तब शासन हो ।
सर्वज्ञता सिद्ध तब, भाव अधिशासक हो ॥७३॥

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

यदि उस में तब रुचि त्यजे, राग द्वेष हों नाश ।
क्लेश मूल जो वासना, उन सब का भी विनाश ॥७४॥
तब आत्मा केवल रहे, प्रकृतिमुक्त अदीन ।
मुक्तिः पाये सर्वथा, सदा युवा सुनवीन ॥७५॥

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात् ॥५१॥

जन महान् यदि निमन्त्रण, दे आकर तुम्हें स्वयं ।
मत मोह में आईये तथा, करिये नाहीं घमण्ड ॥७६॥
नहीं तो फिर फंस जाओगे, अनिष्ट ही में ।
बन्ध अविद्याजन्य जो, उसी घोर दु:ख में ॥७७॥

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥५२॥

आंख झंपकने में लगे, जितना सूक्ष्म काल ।
चौथाई उसका कहा, क्षण अति थोडा काल ॥७८॥
वह क्षण जाते दूसरे, इक पीछे अति शीघ्र ।
यही विचार संयमित हो, कीजिये बुद्धि सुतीव्र ॥७९॥
कालचक्र को बूझ यूं, बन जाओ सुअकाल ।
विवेचनात्मक ज्ञान पा, रहते सदा निहाल ॥८०॥

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

जब दो वस्तु समान ही, से दीखे बिन भेद ।
जाति, धर्म, अरु स्थान से एक रूप ही अभेद ॥८१॥
वहां भिन्नता तथ्य जो, वही विवेक दिखलाय ।
अत यही उत्तम परम, सुज्ञान कहलाय ॥८२॥

तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

विवेक से हों सब विषय, ही सर्वथा ज्ञान ।
इक ही समय में सभी कुछ, हो जाय प्रज्ञान ॥८३॥
ससार से तार दे, अत. यह तारक ज्ञान ।
तारेवत करे रोशनी, यह महान् सुज्ञान ॥८४॥

सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ॥ ५५ ॥

चित्त अरु जीव हो जायं जब, एक समान सुशुद्ध ।
तब शुभ मुक्ति जानिये, पुरुष हुआ प्रबुद्ध ॥८५॥

इति तृतीयः विभूतिपादः ॥

अथ चतुर्थः कैवल्यपादः ॥

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

सिद्धियां मिले समाधि से, तप मन्त्रौषधि से ।
जन्म से ही मिले किसी को, अति भाग्योदय से ॥ १ ॥

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

प्रकृति को सके, पूर जो, सम्यकतया प्रपूर्ण ।
देह निज परिणत् कर सके, स्वेच्छा से गतिपूर्ण ॥ २ ॥
जैसी पूरे प्रकृतिः, वैसा हो परिणाम ।
अन्नादि से देह का, तप से मन परिणाम ॥ ३ ॥

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वर्णभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

अष्ट प्रकृतियां स्वयम् ही, हो रहीं सदा प्रवृत्त ।
धर्म है केवल तोडता, अधर्म बाध प्रवृत्त ॥ ४ ॥
जैसे खाई-बन्ध को, ही किसान दे तोड ।
जलवत् प्रकृतियां स्वयं, उसी ओर हुईं मोड ॥ ५ ॥
धर्म लगाता नहीं अतः, प्रकृतियां स्वयमाप ।
ऐसे ही गुरु आदि भी, बाध हटावे ही आप ॥ ६ ॥
ज्ञान उदय तब शिष्य के, अन्दर से ही हो ।
ईश हृदयस्थित् प्रकट तब, स्वयम् ही उस में हो ॥ ७ ॥

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

केवल निज अहंकार को, ही चित्तों की ओर ।
मोड, बना सके चित्त नये, योगी निज सभी ओर ॥ ८ ॥
जिस जिस से स्व आत्म को, योगी लेगा जोड ।
वही व्यक्ति निज चित्त को, उसी ओर ले मोड ॥ ९ ॥
वह चित्त तब करेगा, उस योगी का ही काम ।
कठपुतली उस की बना, त्यज अपना अन्य काम ॥१०॥

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

इसविध इक ही योगि चित्त, करे अनेक प्रयुक्त ।
भिन्न निजी प्रवृत्तियों, से अन्य सुखयुक्त ॥११॥

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

समाधि से हुआ सिद्ध चित, वासना से रहे हीन ।
संस्कार वहां नहीं जमें, होय मोक्ष में लीन ॥१२॥

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥७॥

कर्म उन के निष्फल रहे, अच्छ बुरे न हों ।
योगी जन हुए सिद्ध यों, कर्म से ऊपर हों ॥१३॥
संसारी जन अन्य सब, हों कर्म आधीन ।
सुख दु:ख पायें कर्म फल, त्रय प्रकार हुए दीन ॥१४॥

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानां८

कर्मों के फलवत् प्रकट, हो वासना जाल ।
हो जिस से स्मृतियां उदय, फंसे जीव सभी काल ॥१५॥

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृति-संस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

दोनों स्मृति अरु वासना, हैं एक ही रूप ।
भेद अतः हो वहां नहीं, चाहे रहें अरूप ॥१६॥
बहुत काल तक भोगता, विविध जाति के जन्म ।
भिन्न देश फिरे जीव यह, फंसा वासना धर्म ॥१७॥
फल अवश्य ही पायगा, टूटे कब यह जाल ।
जब विवेक होवे उदय, कटे यह तब अंजाल ॥१८॥

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

सदा ही इच्छा सभी को, जीने अरु सुख की ।
अतः अनादि वासना, सब को प्रेर सकी ॥१९॥

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

संग्रह में वासनाओं के, कारण पञ्च क्लेश ।
सकल विषय इंद्रियन के, मन बुद्धि सुविशेष ॥२०॥
जातः आयुः भोगमय, कर्मों के फल रूप ।
अतः अभाव से इन सभी, के हों नष्ट अरूप ॥२१॥
सभी वासना सर्वथा, स्मृतियां भी संपूर्ण ।
संस्कार भी सर्व हो, आत्मा रहे न ऊन ॥२२॥

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्१२

धर्मियों के जो धर्म हैं, वे होवे परिणाम ।
भूत भविष्यत् में सदा, धर्मी वही विद्यमान ॥२३॥
समय से प्रकटाप्रकट हो, मरे वा जन्मे नांह ।
तत्वतः धर्म्मी कोई कभी, यद्यपि इक रस नांह ॥२४॥

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

सत्व रजो अरु तमोगुण, मय, ही हैं वे सर्व ।
प्रकटाप्रकट अरु भविष्यत्, भूतस्थ वे सर्व ॥२५॥

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्वम् ॥ १४ ॥

तीनों गुण इक जान हो, करें वस्तु उत्पन्न ।
गुणों का इक परिणाम जो, बने वस्तु स्वच्छन्द ॥२६॥

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥१५॥

ही इक वस्तु विभिन्न चित्त, पहिचानें सुविभिन्न ।
जैसे किसीको सुखी करे, स्त्री, अरु किसीको खिन्न ॥२७॥

न चैकचित्ततंत्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

आधीन कोई वस्तु न, चित्त एक ही के ।
नहीं तो जब नहीं जाने चित्त, तब वही रह न सके ॥२८॥
पर रहें वस्तुएं सदा ही, चित्त जाने चाहे नांह ।
अतः हैं वस्तु स्वतन्त्र सब, चित्तके, आश्रय नांह ॥२९॥

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

वस्तु रंगे जब चित्त को, अति समीप ही से ।
तभी वह जानी जा सके, नहीं अज्ञात रहे ॥३०॥

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

आत्मा में परिणति नहीं, अतः वह प्रभु स्वच्छन्द ।
सदा जान रहा चित्त की, वृत्तियां रह सुखकन्द ॥३१॥

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

स्वयं ही स्व को न जानता, चित्त है वह तो दृश्य ।
जड सर्वथा प्राकृतिक्, द्रष्टा जीव का दृश्य ॥३२॥

एक समये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

एक समय में विषय अरु, स्वरूप को न जान ।
सके चित्त अतः दृश्य ही, अज्ञ उसे पहिचान ॥३३॥

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥ २१ ॥

आत्मा की जगह और इक्, चित्त ही ले यदि मान ।
गडबड हो तब स्मृतियों में, अति प्रसक्ति भी जान ३४
बुद्धिः की बुद्धिः पुनः, दृश्य का भी फिर दृश्य ।
चित्त का भी इक् और चित्त, हो विचित्र कुदृश्य ॥ ३५॥

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

यद्यपि आत्मा जाय न, विषयन में कभी स्वयम् ।
तो भी चित्ताकारवत्, हो सी जाती स्वयम् ॥३६॥
निज बुद्धि आभास यूं, करता जीव सदैव ।
बना चित्त अरु बुद्धिमय, भोगे भोग सदैव ॥३७॥

दृष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

चित्त यूं जीवित् जीव से, रंगा विषयके रूप ।
सभी अर्थ पहिचानता, रहा भोग स्व अरूप ॥३८॥

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपिपरार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

संस्कार अनगणित् ही, करे चित्त सुविचित्र ।
देह इन्द्रिय संबद्ध ही, करे कार्य वह चित्र ॥३९॥
अतः पराये अर्थ ही, है सब उस का काज ।
जीव मोक्ष अरु भोग के, ही अर्थ सजा साज ॥४०॥

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥२५॥

इसविध ज्ञानविशेष से, ज्ञानी हुआ जो जीव ।
गवेषणा निज स्व विषय से, छुट जाय सजीव ॥४१॥

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥२६॥

तत्त्वज्ञान की ओर तब, चित्त जाय निज झुक ।
प्रवृत्त मुक्ति मार्ग में, हो रहा आनन्दभुक् ॥४२॥

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥२७॥

जमे पूर्व संस्कार कभी, उदय करे अन्य भाव ।
जब हो छेद विवेक में, अज्ञान आलस्य भाव ॥४३॥

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

उन्हें नाशिये जानकर, क्लेशों का ही रूप ।
क्रिया योग अरु ध्यान से, लख सदैव निजरूप ॥४४॥

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातिर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

परम सांख्य में भी जिसे, कोई प्रयोजन नांह ।
वही सदा पहिचानता, निज स्वरूप अन्य नांह ॥४५॥
धर्म यज्ञ वह कर रहा, सदा समाधिः सिद्ध ।
बना धर्म का मेघ वह, वर्षाता सभी ऋद्ध ॥४६॥

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

क्लेश अविद्या आदि जो, तब हो जायं निवृत्त ।
शुक्ल कृष्ण, अच्छे बुरे, कर्म त्यजे तब चित्त ॥४७॥

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

बुद्धिः से अज्ञानमल, रज तम ढक्कन दूर ।
तब हो जायं सर्वथा, चित्त हो तब सन्मूल ॥४८॥
अन्तरहित् विस्तार तब, पुरुष ज्ञान जाय पा ।
अनन्त सृष्टिः क्रम तभी, दिखे तुच्छ अतिसा ॥४९॥

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ३२

अर्थ जाय हो गुणों से, तब सर्वथा सिद्ध ।
उनका अगला सृष्टि क्रम, हो जाय स्वतः निरुद्ध ॥५०॥

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ३३

क्रम रोकिये सर्वथा, सृष्टि आदिपर्यन्त ।
प्रति क्षण रखिये ध्यान तब, गुण प्रभाव हो अन्त ॥५१॥

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ३४ ॥

प्रकृति गुण फिर निरर्थक्, आत्मा के लिये हों ।
प्रकृति में लय जायं हो, मुक्त तभी वे हों ॥५२॥
पुरुष उस समय जाय टिक, स्व-रूप निज में ।
चेतन शक्तिः मात्र वह, द्रष्टापन ही में ॥५३॥

॥ इति चतुर्थः कैवल्यपादः ॥

समाप्तं चेदं पातञ्जलयोगानुशासनम् ॥

समाप्ता चेयम् काश्यपीया सरलभावा काव्यटीका ।

ईश्वरहिरण्यगर्भपतञ्जलिव्यासार्पिता

शुभा भवतु ।

शान्तिः।

(पं० रुलियाराम कश्यप, M. Sc., लाहौर)

सभ सब ओ३म् शांतिः शांतिः शांतिः, हर शुभ कार्य यज्ञ, संस्कार, सत्सङ्ग आदि के अन्तमें करते हैं अर्थात् त्रिविध दुःख–विनाशार्थ प्रभु से प्रार्थना करते हैं। आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक दुःखों से सर्व जनता को शांति मिले ऐसा वर प्रभु से सब शुभ काया के अन्त में मांगते हैं। परन्तु समझ नहीं पडता कि फिर भी राज्य संसार में अशांति का क्यों हो गया है। ऐसा भयंकर विश्व–समर उपस्थित हो गया है, न जाने कारण क्या है।

एक तुच्छसा कारण तो यह है कि, उच्चारण शांतिः पाठ का अशुद्ध किया जाता है, द्यौः शांतिः को द्यौ अः-शान्ति पढते हैं। जब लगभग सारी समाजें ऐसी अशान्ति. पढे तो शान्ति के स्थानमें अशान्ति प्राप्त होनी कोई अचम्भे की बात नहीं।

दूसरा यह भी कारण है कि सिद्धान्त के कल्पित बखेडे के बहाने सत्य का त्याग असत्य का ग्रहण किया जाता है। यद्यपि स्वामिजीने तो कहा था कि सदैव असत्य के त्याग तथा सत्य के ग्रहण में तत्पर होना चाहिये, ताकि विज्ञान बढे। परन्तु यहां चाहे कितना बडा समाजी हों, यहां तक स्वामी सत्यानन्द जैसे पुरुष ही क्यों न हो, जहां उसने सर्वसाधारण के समझने के विरुद्ध कोई बात की नहीं कि उसे ही निकालने पर तयार हो जाते हैं, चाहे पीछे से कितना पछताना पडे! उस समय उस की प्रकट की हुई सच्चाई को अवश्य न केवल ठकुरायेंगे ही वरंच अपनी ओर से उसे अपमानित करने तथा उन को नुकसान पहुंचाने का यत्न भरपूर करके देख ही लेते हैं, चाहे अपनी हानि कितनी भी हो।

यह दूसरा कारण है शान्तिः न फैल कर अशान्तिः फैलने का।

तीसरा सर्वव्यापी कारण है, हक दबाने का। विश्व में अमीर गरीबों के हक दबाते हैं, वह दबने नहीं देते। चलो, झगडा खडा हो गया। 'जनें जनें की लकडी एक जने का भार'। अकेले अकेले अमीर गरीब का झगडा बढकर खडा हो गया. महा भयंकर विश्व-संग्राम।

अब कठिनाई एक और है। वह यह कि आर्य समाज समझता है परमात्मा पर मानवी प्रार्थनाओं का असर नहीं होता। केवल इस से प्रार्थना करनेवाला विनम्र रहता है तथा ईश्वरीय शुभ गुण उस में भी आने लग जाते। पता नहीं सच्चाई इतनी ही है या इस से आगे भी कुछ है। क्यूंकि भक्तों के पास जब जन साधारण आते हो पहुंचते रहे हों तो उन की प्रार्थना सुनकर प्रभु आर्तत्राण करते आये हैं। मेरा तुच्छ विचार है कि पक्का निश्चय हो कि प्रभुने दखल तो देनाही नहीं, तो दिल से प्रार्थना निकलती ही नहीं। ईश्वरप्रणिधानपरक पातञ्जल सूत्र पर भगवान् वेद व्यास भाष्य करते हुए साफ शब्दों में लिखते हैं कि, भक्तिविशेष से आवाहन किये गये ईश्वर अपने कृपाकटाक्ष मात्र से ही अनुगृहीत कर देते हैं, जिस से कि समाधिलाभ अत्यन्त ही निकट हो जाता है। अर्थात् भक्त का आवाहन भगवान् की कृपा-दृष्टि को प्रेर सकता है। तात्पर्य यह है कि भगवान् भक्त की टेर सुन लेते है।

'भक्त के भगवान्' से लाभ उन व्यक्तियों को बहुत हो सकता है जिन को आशा हो कि भगवान् प्रार्थी का करुणाक्रन्दन सुन कर द्रवित हो सकते हैं। जिन को यह विश्वास हो कि भगवान् दखल ही नहीं देते, उन को यदि तो इस पुस्तक के पाठ से यह भाव जग गया कि भगवान् दखल देते हैं, तब तो लाभ होगा, अन्यथा स्यात् न ही हो।

अस्तु! इस तुच्छ लेखक का विचार है कि भगवान् प्रार्थना सुनते हैं और भक्त पर अनुग्रह कर उसे उस समय भाग-वत बना कर उस के शरीर के द्वारा अपना कार्य सम्पादन करते हैं।

इस सेवक का यह भी दृढ विश्वास है कि वेद–मन्त्रों में शक्तिः है कि वास्तव में मन्त्र Hypnotic Auto-suggestions हैं। यदि कोई उन्हें अपने हृदयोद्गार बना सके तो उस के उच्चारण से वे मन्त्र अवश्य अपना कार्य कर जायंगे, इस बातका मुझे तजरुबा है। अतः मैं कहता हूं कि यदि जनता वास्तव में युद्ध से त्रास खा रही है, तो चाहिये कि शान्तिपाठ करें, न कि अशान्ति पाठ, सत्य को

अपनायें, सच्चों का आदर करें, न कि असत्य को अपनाये वा सच्चों का अनादर करें, तथा मन में यह दृढ विश्वास धरे कि भगवान् भक्तों के वश में हो सकता है, भक्त उसे प्रार्थना द्वारा आवाहन कर द्रवित कर सकते है ।

इन भावों से भावित होकर शान्तिपाठ करना चाहिये आज शान्तिपाठ की जरुरत है स्थान स्थान पर किया जाने की । इस से शान्तिः हो जाने की आशा बन्ध सकती है क्यूंकि जब सच्चे दिलों से निकली यह प्रार्थना भगवान् के कर्णगोचर होगी तो वे द्रवित हो जायंगे और चाहे कितने भी घोर पाप विश्व में हो चुके हों भगवान् में क्षमा का गुण उदय होकर उन को दयादृष्टिके लिये प्रेरेगा, तब उनके कृपाकटाक्ष से विश्व में शान्तिः फैलेगी । अभी तो वे रुष्ट ही है अथवा जिस सभ्यता को उन्होंने तीन शताब्दियों मे कठिनाई से बनाया उसी का विनाश अब तीन वर्ष में ही करने पर उतारू क्यों हो जाते ?

अब भी समय है जनता को चाहिये कि रूठे भगवान् को मना लेवे ।

शान्तिः पाठ दो प्रकार का है । एक तो वह जो यजुर्वेद के मन्त्र से समाज करती है । साधारण काल के लिये तो वह पर्याप्त हो सकता है । आज कल घोर संकटका समय उपस्थित है । आजकल उतने मात्रसे काम न चलेगा । आज कल के लिये अथर्ववेदका मन्त्र काम दे सकता है । वह मन्त्र इस प्रकार है–

ओ३म् पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे मे देवाः शान्तिः सर्वे मे देवाः शांतिः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः। ताभिः शान्तिभिः सर्वशांतिभिः शमयामोऽहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः॥

(अथर्ववेद का० १९ सू० ९ मं० १४ ॥)

अर्थात् पृथिवी पर शान्तिः हो, अन्तरिक्ष में शान्तिः हो, द्यौः भी शांतिः ही सम्पादन करे, जल स्थल अन्तरिक्ष (वायु स्थान Atmosphere) सर्वत्र शान्तिः हो, ओषधियां वनस्पतियां शान्तिः का ही कारण बने, समस्त दिव्य पदार्थ, गुण, शक्तियां, व्यक्तियां, शान्ति स्थापनमें सहायक हो, विश्व की तथा ब्रह्माण्ड की सार्वकालिक सार्वदेशिक शक्तियां शान्तिः ही बर्षावे। सर्वथा सार्वप्रकारिक सार्वभौमिक शान्तिः इतनी भरपूर फैले कि सब घोर, क्रूर, पाप, कर्म, सर्वथा दूर हो कर समस्त विश्व शान्त, कल्याणरूप ही सर्वत्र सर्वकाल रहे ।

अर्थात् जैसे योगदर्शन में यमों के पालन विषयक आज्ञा है कि जाति देश काल समय की सीमा से असीमित ही इनका पालन होनेसे ये महाव्रत बनते हैं, उन्हे अहिंसा सत्यादि की न्यायीं इस शान्ति.व्रतका सार्वभौम व्रत धारण करने से यह भी सम्भव है कि एक ही योग का जिज्ञासु इस संसार में पुन. शान्तिः स्थापन करवा सके ।

यदि कोई भक्त इस ओर प्रवृत्त होना चाहे, तो मेरी तुच्छ सम्मति से उस के लिये सर्वोत्तम साधन उक्त अथर्व मन्त्र का जाप है, उसे यह मन्त्र अर्थभावन के साथ जपना चाहिये, उसे चाहिये कि इस मन्त्र का पाठ करना करता तन्मय हो जाय, स्वयं शान्त हो जाय, यहां तक अपनी Temperature lower करे, केवल ध्यान मात्रसे (न कि ठण्ड पहुंचानेवाले भौतिक औषधादि द्वारा) कि उस को असह्य शीत अनुभव होने लगे । परन्तु Precaution यह अवश्य रक्खे कि Out of control न हो जावे । अपने ध्यान को सर्वथा अपने वश में रखता हुआ इतना गहरा, नीचा समाधि में उतर जावे कि सर्वथा ही बाहर से शान्त सुषुप्ता हो जावे इस प्रकार करने से वह विश्व-अशान्तिः को एक जबरदस्त धक्का लगा सकेगा ।

आशा है किसी प्रभुभक्त के हृदय में उपर्युक्त साधन प्रवृत्तिमार्ग की प्रेरणा कर उसे विश्वशान्ति स्थापन करने की ओर प्रवृत्त कर सकेगा ।

यदि कोई योग का जिज्ञासु इस ओर प्रवृत्त हो गया, तो जहां वह अनन्त पुण्य का संग्रह कर सकेगा, वहीं साथ ही साथ मेरा यह लेख भी सफल हो चुका होगा ।

May armies succeed in establishing peace and ending war.

May air-force succeed in establishing peace and ending war.

May the navy succeed in establishing peace and ending war.

May herbs, shrubs and trees succeed

in ensuring peace for the world and end of the war.

May the literati of all climes and the spirits of the bygone end the war and secure peace

May peace crop up in various countries and end in universal peace.

May hostilities end in individual countries and result in the end of the world-war

May these methods of peace succeed in ending all that is sinful all that is violence and that is abominable torture

May all be at rest, all be utilitarian, all be entirely peaceful for us and all!

मेरी तुच्छ सम्मति में यदि अंग्रेजी पढे उपरोक्त जाप करते हुए दिलसे (Peace) शान्ति की कामना करें और संस्कृत ज्ञाता मूल मन्त्र का जाप करते करते उस में तन्मय हो जावें और उर्दू गुरमुखी, बङ्गाला, गुजराती, मदरासी आदि भाषावाले अपनी अपनी भाषाओं में इस का दिलसे लगा कर सच्चा अनुवाद वा भाव करके उस का जाप करें तथा जाप करते करते तन्मय हो शान्त हो जावें, तो बहुत ही शीघ्र यह घोर संकट, विश्वविपत्ति, कटे बादल की न्यायीं छिन्न भिन्न हो जावे और जो विश्व अब प्रचण्ड समर-दावानल में भस्मीभूत हो रहा है, वह अर्ध-दग्ध ही दशा में इस युद्धाग्नि से बच निकलेगा और लाखों माताओं के सपूत, कन्याओं के पिता बहिनों के भाई, स्त्रियों के पति, मरने से वा युद्धाहुति बनने से बच जावेंगे !

मैं फिर भी दोहराता हू कि यदि कोई योगका जिज्ञासु इस काम का बीडा उठा ले तो विश्वकी मातृशक्तिका आशीर्वाद उस के साथ होगा क्योंकि कौन नहीं जानता आज संसार भर की देवियां कितना त्रस्त दु खी हैं विशेष कर वे जिनके पति पुत्र पिता भ्राता आदि युद्ध में प्राण त्याग चुके हैं ?

परमात्मा करे कि यह महायुद्ध शान्त हो और दुनियां का सकट से छुटकारा हो ।

सच्चिदानंद प्रभुके श्रीचरणोंमें

हे चेतनानन्द प्रभो ! मुझे अपना प्रेम अरु प्यार दे ।
गुरुवर नमस्ते आपको, भव से तू ऋषिवर ! तार
दे ॥ हे चेत० ॥ १ ॥
चैतन्य दिव्य के स्रोत हो, आनन्द के प्रद्योत हो ।
विज्ञानमय खद्योत हो, गायत्री का मोहे दान दे ॥
हे चेत० ॥ २ ॥
कह ओ३म् सुस्थिर होऊ मैं, विश्राम भू से पाऊं मैं ।
मन संयमित भुव से करू, मुझे ऐसा श्रद्धा भाव
दे ॥ हे चेत० ॥ ३ ॥
मैं आत्म सयम के लिये, स्व शब्द का लू आश्रय ।
इस विध तेरा योगी बनू, मुझे ऐसा शिव्य स्वभाव
दे ॥ हे चेत० ॥ ४ ॥

Creative genius of Ishwar,
May then I adore, Preceptor!
That energy cherishable,
Of Deva supreme worshippable;
May I conserve in me, O Love!
That intuition may fly as dove,
To highest those so blessed peaks,
Regions beyond all human shrieks,
That Deity, who may stimulate,
Our genius of intuition straight,
May we upon Him meditate;
On blessed Bliss so concentrate,
Of Savita Deva, creator Bright,
Eternal Blissful Conscious Might,
That He pervading all and one,
May us protect and bless He Aum.

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद	३)	१)
४ अथर्ववेद	५)	।॥)
५ काण्व-संहिता ।	३)	॥=)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	।॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।		
१ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
२ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
४ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
५ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
६ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
७ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
८ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
९ एकादश काड ,,	२)	॥)
१० त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
११ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१२ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत	१।॥)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
महाभारतसमालोचना। (१-२)	१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक (भा. १-२)	३)	॥)
योगसाधनमाला ।		
१ संध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ प्राणविद्या ।	॥)	=)
३ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
४ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
५ योगसाधनकी तैयारी ।	।॥)	।-)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला		
१ वैदिक राज्यपद्धति	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता	।॥)	≡)
४ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
५ वैदिक सर्पविद्या	॥)	=)
६ शिवसंकल्पका विजय	॥)	=)
७ वेदमें चर्खा	॥)	=)
८ वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
९ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
१० वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
११ वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
१२ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१३ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१४ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद्-माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्	१।)	।-)
१ वेदपरिचय । भाग १-२-३	३॥)	।॥)
२ वेदप्रवेश	४)	।॥)
३ गीता-लेखमाला १ से ६ भाग	५)	१॥)
४ गीता-समीक्षा	=)	-)
५ वेदोपदेश ।	१।।)	॥)
७ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	।-)
६ दैवत-संहिता १ म भाग	५)	१॥)

Regd. No. B. 1763

संपूर्ण महाभारत ।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है । इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे, तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ आपको रेलपार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे । आर्डर भेजते समय अपने रेलस्टेशनका नाम अवश्य लिखें। **महाभारतका** नमूना पृष्ठ और सूची मंगाईये ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस '**पुरुषार्थबोधिनी**' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं । अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' टीका का मुख्य उद्देश है, अथवा यही इसको विशेषता है ।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागों में विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है । मू० ९) रु० डाक व्यय १॥) म० आ० से ९) रु० भेजनेवालोंको डाकव्यय माफ होगा ।

भगवद्गीता-समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यंत आवश्यक है। '**वैदिक धर्म**' के आकार के १२५ पृष्ठ, चिकना कागज मू० १) सजिल्द का मू० १॥) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता-श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है । मूल्य केवल ।≈), डा० व्य० =)

आसन ।

' योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति '

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है । अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं । इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है । मूल्य केवल २) दो रु० और डा० व्य० ।≥) सात आना है । म० आ० से २।≥) रु० भेज दें ।

आसनोंका चित्रपट- २०''×२७'' इंच मू० ≡) रु., डा. व्य. ‐)

मंत्री- स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध